दार्शनिक विवेचनाएं

(Darshanik Vivechanayen)

दार्शनिक विवेचनाएँ

(दर्शन-संगोष्ठी-ग्रंथ)

संपादक

प्रो० हरिमोहन झा

भूतपूर्व युनिवर्सिटी प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दर्शन-विभाग,

(सम्प्रति यू० जी० सी० रिसर्च प्रोफेसर)

पटना विश्वविद्यालय, पटना

(C) बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, १९७३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण योजना के अंतर्गत भारत सरकार
(शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान
से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या :—७३

प्रथम संस्करण : अगस्त, १९७३
३०००

मूल्य : ६.५० (छः रुपये पचास पैसे)

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना

मुद्रक :
जन जागरण प्रेस,
पटना

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं में प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ "दार्शनिक विवेचनाएँ" प्रो० हरिमोहन झा द्वारा संपादित निबंध-संकलन है जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का स्वागत किया जाएगा।

पटना
दिनांक २४-८-७३

अध्यक्ष
बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ "दार्शनिक विवेचनाएँ" भारत सरकार की ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा मगध विश्वविद्यालय में नवंबर, १९७१ ई० में आयोजित दर्शनविषयक हिंदी माध्यम अध्यापन संगोष्ठी तथा पुनश्चर्या कार्य-क्रम के अवसर पर पठित कतिपय निबंधों का संकलन है, जो पटना विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष प्रो० हरिमोहन झा द्वारा सम्पादित है। प्रो० हरिमोहन झा दर्शन-शास्त्र के शीर्षस्थानीय विद्वान् तथा लब्धप्रतिष्ठ रस-सिद्ध साहित्य-स्रष्टा हैं। प्रस्तुत संगोष्ठी ग्रंथ की परिकल्पना से लेकर रूप-सज्जा तक में आपकी प्रतिभा और परिश्रम एकांत रूप से निहित है। इसमें सम्मिलित निबंधों के अन्य लेखक भी अपने विषय के अनुभवी विद्वान् हैं और ये सभी निबंध परिश्रम-पूर्वक तैयार किए गए हैं। संगोष्ठी के अवसर पर उपस्थित विद्वज्जनों के विचार-विमर्श के आलोक में इनका संपादन किया गया है, जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ गई है। ग्रंथ के अन्त में लेखकों का परिचय दिया गया है।

इसका मुद्रण-कार्य जनजागरण प्रेस, पटना-३ ने किया है। इसके प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री गोपाल जी झा 'गोपेश' ने किया है और कुछ प्रूफ-सम्बन्धी मुद्रणादेश प्रो० हरिमोहन झा जी ने स्वयं दिये हैं। आवरण-शिल्पी श्री वी० के० सेन हैं तथा ब्लौक-निर्माण और ब्लौक की छपाई का कार्य हिंद आर्ट कॉटेज, पटना ने किया है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शिवचन्द्र प्रसाद

पटना
दिनांक २४-८-७३

निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

संपादकीय निवेदन

बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना की प्रथम दर्शन-संगोष्ठी बोधगया में हुई थी। नवंबर, १९७१ में। वह लगातार छः दिनों तक चलती रही। भारतीय दर्शन की संगोष्ठी मेरी अध्यक्षता में हुई थी। उसमें विविध विषयों पर व्याख्यान हुए, परिचर्चाएँ हुईं; वाद-विवाद हुए। कुछ अन्यान्य लेख भी आये। अकादमी का विचार हुआ कि इस समस्त सामग्री को, जिसमें वेद से लेकर विनोबा तक के विचार समाविष्ट हैं, संकलित-संपादित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाय। फलस्वरूप 'दार्शनिक विवेचनाएँ' आपके हाथ में है।

इस ग्रंथ को दो खंडों में विभक्त कर दिया गया है—(१) निबन्ध और (२) परिचर्चाएँ।

निबन्धों का चयन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया गया है।

(क) भारतीय दर्शन में कतिपय ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय हैं जो प्रायः संस्कृत के पंडितों तक ही सीमित हैं और अधिकांश हिंदी पाठकों के लिए अपरिचित या अबोधगम्य हैं। ऐसे विषयों पर अधिकारी विद्वानों से आग्रहपूर्वक लेख लिखवाये गये हैं। यथा—अवच्छेदकता, स्फोटवाद, अभिहितान्वयवाद इत्यादि। इन विषयों पर पूर्ण प्रकाश डालने के लिए तो कई स्वतंत्र ग्रंथ अपेक्षित है। किन्तु कम-से-कम कुछ दिग्दर्शन भी तो प्राप्त हो जाय, इस दृष्टि से ऐसे लेखों की भी आवश्यकता है।

(ख) आधुनिक वैज्ञानिक युग के संदर्भ में भारतीय दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों का पुनर्वीक्षण एवं मूल्यांकन होना वांछनीय है। अतएव 'आत्मा', 'परमात्मा', 'पुनर्जन्म' प्रभृति विषयों पर विद्वान् अध्यापकों के विचार गोष्ठी में आमन्त्रित किये गये थे, जो इस ग्रंथ में समाविष्ट हैं। आशा है, वे चिन्तन के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण और नये-नये आयाम पाठकों के समक्ष उपस्थित कर उनकी ज्ञान-वृद्धि में सहायक होंगे।

विषय-सूची

निबन्ध और लेखक	पृष्ठ-संख्या
१. भारतीय दर्शन और आधुनिक परिप्रेक्ष्य	
—प्रो० हरिमोहन झा	१
२. नव्यन्याय में अवच्छेदकता	
—प्रो० हरिमोहन झा	११
३. अभिहितान्वयवाद और अन्वितामिधानवाद	
—पं० आद्याचरण झा	२१
४. स्फोटवाद	
—पांडेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी	२७
५. मीमांसा का निरीश्वरवाद	
—प्रो० पद्माकर सिंह	३८
६. चाक्षुष प्रत्यक्ष की समस्या	
प्रो० लाला पंचानन्द सिनहा	५२
७ वेद का भौतिक दृष्टिकोण	
—सुश्री डा० उमा गुप्ता	५६
८. आत्मा और पुनर्जन्म	
—प्रो० डा० शशिभूषण सिंह	६
९. मृत्यु के पश्चात्	
—प्रो० डा० विश्वनाथ सिंह	
परिचर्चा (१) सर्वोदय का सिद्धान्त	
१०. डा० अशोक कुमार वर्मा	८'
११ डा० रामजी सिंह	९५
१२. आचार्य कार्यानन्द शर्मा	१२

संगोष्ठी में दो परिचर्चाएँ हुईं—एक संत विनोबा के "सर्वोदय" पर, दूसरी महात्मा गांधी के ब्रह्मचर्य-सिद्धान्त' पर। महात्मा गांधी ने पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना में कतिपय मौलिक प्रयोग किये थे, जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता की ओर से प्रकाशित 'शील की नव बाड' के विद्वान् अनुवादक श्रीचन्द रामपुरिया ने अपनी पांडित्यपूर्ण भूमिका में एतद्विषयक विशद विवेचना की है, जिसमें कई विचारोत्तेजक प्रश्न उठाये गये हैं। गांधी-दर्शन का अनुशीलन करनेवाली कुछ बहनों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने इस सम्बन्ध में, अपने-अपने दृष्टिकोण गोष्ठी में रखे जो उनके लेखों में अभिव्यक्त हैं। ये परिचर्चाएँ विद्वन्मंडली में प्रशंसित और बहुचर्चित हुई थीं।

जिन लेखक-लेखिकाओं ने भिन्न-भिन्न सामग्री जुटा कर इस संकलन को वैविध्यपूर्ण बनाया है, उनके हम आभारी हैं। उन्होंने जिन ग्रन्थों से सहायता ली है या उद्धरण दिये हैं, उनका नामोल्लेख यथास्थान पाद-टिप्पणियों में या ग्रन्थ-सूची में कर दिया गया है। यदि अनवधानवश कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ महानुभाव क्षमा करेंगे। हम उन सभी के कृतज्ञ हैं जिनका, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, किसी प्रकार का सहयोग इस संकलन में है।

बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी के लब्धप्रतिष्ठ अध्यक्ष आचार्य सुधांशुजी तथा यशस्वी निदेशक साहित्यमर्मज्ञ डॉ० शिवनन्दन प्रसाद जी इस पुस्तक के सुन्दर सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए धन्यवादार्ह हैं।

यदि यह कृति दर्शन-पिपासुओं को थोड़ा भी रसास्वादन करा कर उनकी क्षुधा जगा सके, जिज्ञासुओं को प्रेरणा एवं दिशा-निर्देश प्रदान कर सके, विश्वविद्यालयों तथा पुस्तकालयों में अपनी उपयोगिता और लोकप्रियता सिद्ध कर सके, तो भविष्य में भी ऐसी कृतियाँ पाठकों की सेवा में अर्पित की जा सकेंगी।

रानीघाट क्वार्टर्स, पटना
२४ अगस्त, १९७३

—हरिमोहन झा

विषय-सूची

निबन्ध और लेखक | पृष्ठ-संख्या

१. भारतीय दर्शन और आधुनिक परिप्रेक्ष्य
—प्रो० हरिमोहन झा १

२. नव्यन्याय में अवच्छेदकता
—प्रो० हरिमोहन झा ११

३. अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद
—पं० आद्याचरण झा २१

४. स्फोटवाद
—पांडेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी २७

५. मीमांसा का निरीश्वरवाद
—प्रो० पद्माकर सिंह ३८

६. चाक्षुष प्रत्यक्ष की समस्या
प्रो० लाला पंचानन्द सिनहा ५२

७ वेद का भौतिक दृष्टिकोण
—सुश्री डा० उमा गुप्ता ५६

८. आत्मा और पुनर्जन्म
—प्रो० डा० शशिभूषण सिंह ६१

९. मृत्यु के पश्चात्
—प्रो० डा० विश्वनाथ सिंह ७१

परिचर्चा (१) सर्वोदय का सिद्धान्त

१०. डा० अशोक कुमार वर्मा ८५

११ डा० रामजी सिंह ९५

१२. आचार्य कार्यानन्द शर्मा ११२

निबन्ध और लेखक — पृष्ठ-संख्या

परिचर्चा (२) गाँधीदर्शन में ब्रह्मचर्य का आदर्श

१३. श्रीमती विनोद बाला सिंह — १२३

१४. प्रो० डा० श्रीमती इंदिरा शरण — १३९

१५. सुश्री प्रो० रमा सेन — १४८

१६ प्रो० डा० दशरथ सिंह — १५९

लेखक परिचय — १६७

★

निबन्ध

लेने से वे उतने दु:सह प्रतीत नहीं होते। अग्रिम जन्म में सुफल भोगने की आशा वर्त्तमान असंतोष से ऊपर उठकर सत्कर्म करने की प्रेरणा देती है। इन बातों से दु.ख में भी आत्म-संतुलन बना रहता है और मनोबल मिलता है। लोक-कल्याण की दृष्टि से नैतिक आदर्श निरूपित किये गये हैं। उन्हें मोक्ष अर्थात् नित्य निरतिशय आनन्द का सोपान माना गया है।

अपने यहाँ की विचार-धारा में वैयक्तिक एव सामाजिक स्तर पर पूर्णता की प्राप्ति के लिए, व्यष्टि और समष्टि की खाई को पार कर, पिंड और ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में बाँधकर, स्वार्थ और परार्थ के बीच की दीवाल ही मिटा दी गई है। इस प्रकार, भारतीय जीवन-दर्शन में एक विलक्षण व्यावहारिक दूरदर्शिता भरी हुई है।

आज प्राचीन धारणाएँ टूट कर बिखर रही हैं। नैतिक मूल्यों का अव-मूल्यन हो रहा है। लोकतांत्रिक पद्धति में 'संख्या' (Number) का महत्त्व सर्वोपरि है। बौद्धिक एवं चारित्रिक गुण उसके समक्ष गौण हो गए हैं। निन्यानवे विद्वानों से सौ मूर्खों का मूल्य अधिक माना जाता है, क्योंकि विचारों की मान्यता हाथों की गिनती से निर्णीत होती है, न कि विवेक के तुला-दंड से। अधिकारि-विवेचन उठ जाने के कारण, अनधिकारियों के हाथ में सत्ता आ जाती है, और परिणामत: शासन और अनुशासन में भ्रष्टाचारों की वृद्धि होती है।

आज का व्यक्ति अपने को स्वतंत्र इकाई समझता है। दायित्व (Duty) से अधिक अपने प्राप्य (Right) पर जोर देता है। कर्त्तव्यता के ऊपर अधिकार की भावना हावी हो गई है। श्रद्धा, मर्यादा और त्याग के स्थान पर संशय, उच्छृंखलता और भोग की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। सादा जीवन और उच्च विचार (Plain Living and High thinking) आदर्श के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता। सात्त्विक जीवन से राजस जीवन को श्रेष्ठ समझा जाता है। अपरिग्रह और अकिंचनता को हेय समझकर आर्थिक ऐश्वर्य एवं विलासिता को जीवन का मानक (Standard) समझा जाता है। तितिक्षा और उपरति से बुभुक्षा और रति को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इंद्रिय-निग्रह को हानिकर और स्वच्छंद यौनतृप्ति को वांछनीय समझा जा रहा है। शम, दम और संतोष निर्बलों के लक्षण माने जाते हैं। भोज्य पदार्थों के लिए भोक्ताओं में भीषण प्रतियोगिता चलती है। समाज में विघटनकारी तत्त्व बढ़ रहे हैं। हड़तालों, नारों और विध्वंसकारी प्रवृत्तियों का बोलबाला हैं।

संचित-प्रारब्ध रूपी कर्मफलवाला सिद्धान्त पूर्वजन्म पर आश्रित है। जमान्तरवाद खंडित होने से वह भी खंडित हो जाता है। और, इनके विना मोक्ष का अर्थ ही क्या रह जायगा? जब कर्मवन्धन और आवागमन का चक्र ही नहीं, तब फिर निष्कृति या छुटकारा किससे? इस प्रकार, आत्मा की भित्ति टूट जाने से पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष की संपूर्ण अट्टालिका ही ढह जाती है।

यह अनात्मवाद आज के विज्ञान में घर किये हुए है। शरीर-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, कोई भी 'आत्मा' का नाम नहीं लेता। दर्शन के क्षेत्र में भी आत्मा पर तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) अणुवमों का विस्फोट कर रहा है। भाषा-विश्लेषण (Linguistic Analysis) वाले 'आत्मा' जैसे शब्दों को निरर्थक (Meaningless) घोषित कर रहे हैं। आत्मा चारों ओर से निष्कासित होकर कुछ प्रत्ययवादियों (Idealists) और परामनोविद्या (Para Psychology) वालों की शरण में अवस्थित है।

कुछ आधुनिक विचारक 'आत्मा' या 'ब्रह्म' का नाम सुनते ही उबल पड़ते हैं। वे कहते हैं—'दुनिया इतना आगे वढ़ गई और हमलोग वही पुराना ध्रुपद अलापते जा रहे हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'! अजी, अब 'ब्रह्म मिथ्या जगत् सत्यम्' कहिए। अयमात्मा ब्रह्म नहीं, अयमात्मा भ्रमः। हमलोग चलते-फिरते (Computer) मशीन की तरह हैं। सोचने की क्रिया भी यांत्रिक (Mechanical) है। इस तरह 'आत्मा' का खातमा हो रहा है।

× × ×

आज विचार के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे हम असंपृक्त नहीं रह सकते। यदि भारतीय दर्शन की आत्मा को जीवित रहना है, तो हमें आधुनिक चार्वाकों की चुनौतियों को स्वीकार कर, वैज्ञानिक स्तर पर प्रत्युत्तर देना होगा। जीवाणुओं, कोशिकाओं (Cells) और ग्रन्थिस्रावों (Glandular Secretions) आदि के द्वारा जो जीवन की व्याख्या वे प्रस्तुत करते हैं; उनकी पूर्णरूपेण समीक्षा करनी होगी। विश्लेषण (Analysis) का जवाब और गहरे विश्लेषण से देना होगा।

भारतीय दर्शन का वैशिष्ट्य है कि वह वर्त्तमान जीवन को अतीत और भविष्य के बीच एक कड़ी मानता है। क्लेशों को पूर्वजन्मार्जित कर्मफल मान

भारतीय दर्शन और आधुनिक परिप्रेक्ष्य

प्रो० हरिमोहन झा

भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण मुख्यत: आध्यात्मिक रहा है। आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल और मोक्ष—इसके आधारभूत स्तम्भ रहे हैं। परन्तु आज के भौतिकवादी युग में ये चारों पाये हिल रहे हैं। परम्परागत मान्यताएँ टूट रही हैं। अब परलोक की दृष्टि से जीवन के क्रिया-कलाप निर्धारित नहीं किये जाते। लौकिक अभ्युदय को ही प्रगति का मानदण्ड माना जा रहा है। संस्कृति भोग-केंद्रित हो गई है। अर्वाचीन महर्षि मार्क्स और फ्रायड ने अर्थ और काम को चरम पुरुषार्थ के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया है। धर्म केवल उपयोगितावाद की दृष्टि से, साधन के रूप में, रह गया है, न कि साध्य के रूप में। आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में मोक्ष का कोई स्थान नहीं है।

आज का लोकायत मत भौतिकी विद्या की चोटी पर चढ़कर बातें कर रहा है। मन की कुंजी शरीर में खोजी जा रही है, शरीर की रसायन-शास्त्र में। पुरुष का रहस्य प्रकृति में ढूँढ़ा जा रहा है, प्रकृति का परमाणुओं में, परमाणुओं का वैद्युतिक शक्तियों में। शरीरयंत्र के अवयवों को घड़ी के पुर्जों की तरह खोला और बदला जा रहा है। कृत्रिम मनुष्य (रोबट) बनाकर उससे मानसिक कार्य लिए जा रहे हैं। देहात्मवाद की इमारत गहरी भौतिक नींवों पर खड़ी की जा रही है।

आज का विज्ञान शरीर से पृथक् आत्मा को नहीं मानता। मरणोत्तर सूक्ष्म शरीर के लिए उसे कोई प्रमाण नहीं मिलता। शरीर-विरहित चैतन्य की उपपत्ति अनुभव के द्वारा नहीं होती। जिस आत्मा को गीता में अच्छेद्य, अदाह्य, अविनाशी, अचल और सनातन माना गया है, उससे आधुनिक वैज्ञानिकों का कोई परिचय नहीं है। वे उस चैतन्य को जानते हैं जो शस्त्राघात से आहत और क्लारोफार्म की गंध से तिरोहित हो जाता है, जो मूर्छावस्था में लुप्त और मृत्यु के साथ नष्ट हो जाता है। वे 'अहमस्मि' ज्ञान को निरपेक्ष या शाश्वत नहीं मानते, उसे मस्तिष्काश्रित प्रत्यय मात्र समझते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक नचिकेता की तरह उपनिषद् के आत्मवाद से संतुष्ट होनेवाले जीव नहीं हैं। वे 'आत्मानं रथिनं विद्धि' को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—रथ के अंदर कोई रथी नहीं है। पिंजड़े के अंदर कोई पक्षी नहीं है। मशीन के भीतर प्रेत (Ghost in the Machine) की कल्पना को वे कोटि-भ्रम (Category Mistake) कहते हैं।

और, जब आत्मा ही नहीं, तब पुनर्जन्म किसका होगा? गीता की

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही

इस उपमा से वे प्रभावित नहीं होते। पुराना वस्त्र हम अपनी इच्छा से उतार कर नया पहनते हैं। किन्तु यह चोला तो स्वयं छूट जाता है; हम चाहें या न चाहें। और, पुराना ही क्यों? नया भी। और, नया चोला तो हमारे सामने रखा हुआ नहीं है कि हम अपनी मर्जी से बदल लें। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' तो प्रत्यक्ष सिद्ध है; किन्तु 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' को स्वयंसिद्ध की मान्यता कैसे दी जाय? देहान्त के अनन्तर देहान्तर की प्राप्ति होगी, इसका क्या प्रमाण? क्या पुनर्जन्मवादियों के पास ऐसी ठोस युक्तियाँ हैं, जिनसे वे अपना पक्ष सिद्ध कर सकें?

गौतम की पुनर्जन्म विषयक युक्तियाँ* आज के मस्तिष्क को 'अपील' नहीं करतीं। जीव-विज्ञानवाले कहते हैं कि नवजात शिशु का स्तनपान नैसर्गिक प्रवृत्ति (Instinct) मात्र है, जन्मान्तर के अभ्यास का परिणाम नहीं। उसके मुँह पर जो हर्ष, शोक और भय के चिह्न प्रकट होते हैं, वे स्मृतिजन्य नहीं, संवेदनजन्य (Reflex Action) हैं। कोई जन्म से विकलांग या मंद होता है, यह 'अदृष्ट' का दोष नहीं है। रज और शुक्र-कीटाणुओं की विभिन्नताओं के कारण ही शिशुओं की आकृति-प्रकृति में भिन्नता होती है। आनुवंशिकता (Heredity) और परिवेश (Environment) के भेद से ही संस्कार-व्यवहार में भेद पड़ते हैं। जीवन की गतिविधियाँ इसी जन्म की परिस्थितियों से निरूपित होती हैं। पूर्वजन्म की कल्पना आवश्यक नहीं है। सुख-दुःख के असमान वितरण का कारण प्रारब्ध नहीं, वर्त्तमान सामाजिक ढाँचा है। उसे बदला जा सकता है। आर्थिक विषमताओं को दूर किया जा सकता है।

---

* देखिए, न्यायसूत्र ३।१।१९-२५।

संचित-प्रारब्ध रूपी कर्मफलवाला सिद्धान्त पूर्वजन्म पर आश्रित है। जमान्तरवाद खंडित होने से वह भी खंडित हो जाता है। और, इनके विना मोक्ष का अर्थ ही क्या रह जायगा ? जब कर्मबन्धन और आवागमन का चक्र ही नहीं, तब फिर निष्कृति या छुटकारा किससे ? इस प्रकार, आत्मा की भित्ति टूट जाने से पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष की संपूर्ण अट्टालिका ही ढह जाती है।

यह अनात्मवाद आज के विज्ञान में घर किये हुए है। शरीर-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, कोई भी 'आत्मा' का नाम नहीं लेता। दर्शन के क्षेत्र में भी आत्मा पर तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) अणुबमों का विस्फोट कर रहा है। भाषा-विश्लेपण (Linguistic Analysis) वाले 'आत्मा' जैसे शब्दों को निरर्थक (Meaningless) घोषित कर रहे हैं। आत्मा चारों ओर से निष्कासित होकर कुछ प्रत्ययवादियों (Idealists) और परामनोविद्या (Para Psychology) वालों की शरण में अवस्थित है।

कुछ आधुनिक विचारक 'आत्मा' या 'ब्रह्म' का नाम सुनते ही उबल पड़ते हैं। वे कहते हैं—'दुनिया इतना आगे बढ़ गई और हमलोग वही पुराना ध्रुपद अलापते जा रहे हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'! अजी, अब 'ब्रह्म मिथ्या जगत् सत्यम्' कहिए। अयमात्मा ब्रह्म नहीं, अयमात्मा भ्रमः। हमलोग चलते-फिरते (Computer) मशीन की तरह हैं। सोचने की क्रिया भी यांत्रिक (Mechanical) है। इस तरह 'आत्मा' का खातमा हो रहा है।

× × ×

आज विचार के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे हम असंपृक्त नहीं रह सकते। यदि भारतीय दर्शन की आत्मा को जीवित रहना है, तो हमें आधुनिक चार्वाकों की चुनौतियों को स्वीकार कर, वैज्ञानिक स्तर पर प्रत्युत्तर देना होगा। जीवाणुओं, कोशिकाओं (Cells) और ग्रन्थिस्रावों (Glandular Secretions) आदि के द्वारा जो जीवन की व्याख्या वे प्रस्तुत करते हैं; उनकी पूर्णरूपेण समीक्षा करनी होगी। विश्लेपण (Analysis) का जवाब और गहरे विश्लेपण से देना होगा।

भारतीय दर्शन का वैशिष्ट्य है कि वह वर्तमान जीवन को अतीत और भविष्य के बीच एक कड़ी मानता है। क्लेशों को पूर्वजन्मार्जित कर्मफल मान

लेने से वे उतने दुःसह प्रतीत नहीं होते। अग्रिम जन्म में सुफल भोगने की आशा वर्त्तमान असंतोष से ऊपर उठकर सत्कर्म करने की प्रेरणा देती है। इन बातों से दु.ख में भी आत्म-संतुलन बना रहता है और मनोबल मिलता है। लोक-कल्याण की दृष्टि से नैतिक आदश निरूपित किये गये हैं। उन्हें मोक्ष अर्थात् नित्य निरतिशय आनन्द का सोपान माना गया है।

अपने यहाँ की विचार-धारा में वैयक्तिक एव सामाजिक स्तर पर पूर्णता की प्राप्ति के लिए, व्यष्टि और समष्टि की खाई को पार कर, पिंड और ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में बाँधकर, स्वार्थ और परार्थ के बीच की दीवाल ही मिटा दी गई है। इस प्रकार, भारतीय जीवन-दर्शन में एक विलक्षण व्यावहारिक दूरदर्शिता भरी हुई है।

आज प्राचीन धारणाएँ टूट कर बिखर रही हैं। नैतिक मूल्यों का अव-मूल्यन हो रहा है। लोकतांत्रिक पद्धति में 'संख्या' (Number) का महत्त्व सर्वोपरि है। बौद्धिक एवं चारित्रिक गुण उसके समक्ष गौण हो गए हैं। निन्यानवे विद्वानों से सौ मूर्खों का मूल्य अधिक माना जाता है, क्योंकि विचारों की मान्यता हाथों की गिनती से निर्णीत होती है, न कि विवेक के तुला-दंड से। अधिकारि-विवेचन उठ जाने के कारण, अनधिकारियों के हाथ में सत्ता आ जाती है, और परिणामतः शासन और अनुशासन में भ्रष्टाचारों की वृद्धि होती है।

आज का व्यक्ति अपने को स्वतंत्र इकाई समझता है। दायित्व (Duty) से अधिक अपने प्राप्य (Right) पर जोर देता है। कर्त्तव्यता के ऊपर अधिकार की भावना हावी हो गई है। श्रद्धा, मर्यादा और त्याग के स्थान पर संशय, उच्छृंखलता और भोग की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। सादा जीवन और उच्च विचार (Plain Living and High thinking) आदर्श के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता। सात्त्विक जीवन से राजस जीवन को श्रेष्ठ समझा जाता है। अपरिग्रह और अकिंचनता को हेय समझकर आर्थिक ऐश्वर्य एवं विलासिता को जीवन का मानक (Standard) समझा जाता है। तितिक्षा और उपरति से बुभुक्षा और रति को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इंद्रिय-निग्रह को हानिकर और स्वच्छंद यौनतृप्ति को वांछनीय समझा जा रहा है। शम, दम और संतोष निर्बलों के लक्षण माने जाते हैं। भोज्य पदार्थों के लिए भोक्ताओं में भीषण प्रतियोगिता चलती है। समाज में विघटनकारी तत्त्व बढ़ रहे हैं। हड़तालों, नारों और विध्वंसकारी प्रवृत्तियों का बोलबाला है।

वर्त्तमान पीढ़ी क्षोभ, असंतोष, कुंठा और विद्रोह-भावना से ग्रस्त है। वह सीमाओं का उल्लंघन कर निरंकुशता की ओर बढ़ रही है।

दूरदर्शी मनीषीगण, अनुभवी चिकित्सकों की तरह, समय-समय पर, मानव-क्लेश का निदान और उपचार बतलाते आए हैं; जैसे, गौतम ने 'द्वादश-निदान' एवं 'अष्टांग मार्ग' दिए थे। आज भी ऐसे चिन्तकों की आवश्यकता है, जो अंध गति से बढ़ते हुए दिग्-भ्रमित मानव को उचित दिशा-निर्देश दे सकें। आज जीवन लक्ष्यविहीन हो गया है। हम स्वयं नहीं जानते कि हमें क्या चाहिए। कभी 'राकेट' लेकर दौड़ते हैं, कभी 'ऐटम बम' लेकर। किन्तु शान्ति का मानसरोवर कहाँ है, यह हम नहीं जानते। जो अन्तर्मुखी दृष्टि हमारी विशेषता थी, उसे हम छोड़ रहे हैं। जीवन-मरण की समस्याओं पर हम उस उच्चता और तटस्थता से विचार नहीं करते, जो हमारी सांस्कृतिक विशेषता थी। हम उस आध्यात्मिक संदेश को भूल गए हैं, जो सार्वदैशिक और सार्वकालिक मूल्य रखता है।

'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की जगह हम 'भूतावास्यमिदं सर्वम्' का पाठ पढ़ रहे हैं। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' की जगह 'तेन रक्तेन भुंजीथाः' में संलग्न हैं।

शान्ति की समस्या वैयक्तिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिरन्तन समस्या है। 'जिओ और जीने दो' (Live and let live), इसी उद्देश्य को लेकर सभी समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र विरचित हुए हैं। सह-अस्तित्व का सिद्धान्त ही जीवन-दर्शन का आधार है। भारतीय दर्शन ने इस लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए विश्वबन्धुत्व का जो आदर्श सामने रखा, वह बहुत बडी देन है। वैदिक युग से ही—संगच्छध्वम् संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्—जैसे सहजीवन के मंत्र यहाँ के जनजीवन को अनुप्राणित करते आ रहे हैं। मिल और बेंथम से बहुत पहले, सहस्राब्दियों से, 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की ध्वनियाँ यहाँ की गुफाओं और कंदराओं में गूँजती आ रही हैं। हमारा सनातन लक्ष्य रहा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्

केवल मनुष्यों के प्रति ही नहीं, अपितु प्राणी मात्र के प्रति मैत्री और करुणा, पशु-पक्षियों के निमित्त भी ग्रास और बलि का उत्सर्ग, ये सब उदार भावनाएँ हमारी विशिष्ट पैतृक सम्पत्ति है।

वर्णाश्रम धर्म का विधान भी घृणा-द्वेष या वर्गयुद्ध उत्पन्न करने के लिए नहीं, बल्कि समाज को एक सूत्र में ग्रथित करने के लिए किया गया था, जिससे प्रत्येक अपने को विशाल समष्टि का एक अंग मानकर अपने कर्त्तव्यों का अनुशासित ढग से पालन करे और अपने जन्मजात संस्कार और अभ्यास के अनुरूप सेवाएँ करते हुए अपने जीवन को समाज-यज्ञ में अर्पित कर दे।

समष्टि के कल्याण में ही व्यक्ति का कल्याण है, और निजी जीवन-धारा को समाज-गंगा की धारा में विलीन कर देना ही धर्म है। यही उदात्त भावना यहाँ के जन-मानस को क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठाने में सहायक रही थी। पशुता को दबाने और देवत्व को उभारने के लिए हमारे यहाँ नाना प्रकार के उपाय बताए गए हैं। चित्त की चंचल वृत्तियों का निरोध करने के लिए योग की शिक्षा दी गई है। चाहे पतंजलि का अष्टांग मार्ग हो या गौतम बुद्ध का, योगसूत्र के पंच यम हों या जैन दर्शन के पंच महाव्रत, वेदान्त की षट्सम्पत्ति हो अथवा बौद्ध या जैन दर्शन के त्रिरत्न, सबका मुख्य उद्देश्य है आत्म-संयम। यही भारतीय जीवन-दर्शन का मूलमंत्र है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विकारों का दमन करने की चेष्टा ही तपस्या है। आसुरी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के निमित्त शरीर इन्द्रिय तथा विषयों की ओर से चित्त-वृत्ति को निवृत्त कर आत्मा की तरफ मोड़ देना ही आध्यात्मिक साधना है। यही तपः साधना भारतीय संस्कृति की विशेषता थी। आधुनिक विज्ञान बाह्य जगत् के तत्त्वों का अनुसंधान कर अन्तरिक्ष में उड़ रहा है। प्राचीन दर्शन अन्तर्जगत् के तत्त्वों का अनुशीलन कर आत्मा की गहराइयों में प्रवेश करने को कहता है। दोनों ही दिशाओं में अनन्त संभावनाएँ हैं। और यह असंभव नहीं कि एक दिन विश्व परिक्रमा करनेवाले वैज्ञानिक और अन्तःपरिक्रमा करने वाले दार्शनिक, कार्त्तिकेय और गणेश की तरह, एक ही बिंदु पर आकर मिल जायँ।

कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

यह प्रश्न आज फिर सामने आ खड़ा है। हमें उत्तर ढूँढ़ना है। भूतदेवाय ? आत्मदेवाय ? अथवा भूतात्मदेवाय ?

जगत् की व्याख्या चाहे भूत-तत्त्व के द्वारा की जाय अथवा आत्म-तत्त्व के द्वारा, जीवन-दर्शन की उपयोगिता रहेगी ही। भारतीय जीवन-दृष्टि में जो विशालता-व्यापकता है, जो उच्चता-उदारता है, जो भव्यता-महत्ता है, वह

मानव-संस्कृति की अक्षय धरोहर है। भारत का अध्यात्मवाद, आशावाद और आत्मविश्वास ध्रुवतारा की तरह मानव-जीवन का दिशा-निर्देश करता रहेगा। ज्ञान, भावना और कर्त्तव्य, इन तीनों क्षेत्रों में उसके उच्च आदर्श, सत्य, प्रेम और न्याय के आदर्श, हिमालय के उत्तुंग शिखरों की तरह चमकते रहेंगे। संयम, सदाचार और सेवा की सरणी पकड़ कर मानव-सभ्यता वहाँ तक पहुँचने का लक्ष्य रखेगी। हमारे वेद से लेकर विनोबा तक जगत् को शान्ति का पाठ पढ़ाते आये हैं। उनके संदेश देश-देश में गूँज सकें, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का तिरंगा झंडा पृथ्वी पर फहरा सके, तो यह मानवीय संस्कृति की विजय होगी। वैदिक सभ्यता का मधुरतम संदेश है कि विश्व के कण-कण माधुर्य से ओतप्रोत हो जाएँ।

मधुवाता ऋतायते। मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
मधुमत् पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो वनस्पतिः। मधुमान् अस्तु सूर्यः।
ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—यजुर्वेद १३-२७-२९

भारतीय जीवन-दर्शन के कुछ मूल मंत्र

मित्रस्याहं चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षे

—यजुर्वेद ३६।१८

(मैं सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ)

× × × ×

पुमान पुमांसः परिपातु विश्वतः

—ऋग्वेद ६।७५।१४

(विश्वभर में मनुष्य मनुष्य की रक्षा करे)

× × × ×

यांश्च पश्यामि यांश्च न तेपु मा सुमतिं कृधि

—अथर्ववेद १७।१।७

(जिन्हें देखता हूँ और जिन्हें नहीं देखता, सब के प्रति मेरी सद्भावना रहे)

× × × ×

नव्यन्याय की 'अवच्छेदकता'

प्रो० हरिमोहन झा

'अवच्छेदकता' की उत्पत्ति के संबंध में एक मनोरंजक किंवदन्ती है। एक बार पं० गंगेश उपाध्याय अपने दालान पर विद्यार्थियों को न्यायशास्त्र पढ़ा रहे थे। भीतर रसोई घर में उनकी पत्नी चूल्हा जला रही थीं। कच्ची लकड़ी के कारण बेचारी धुएँ से परेशान हो रही थीं। बार-बार फूँकने पर भी आग सुलगती ही नहीं थी। उधर दरवाजे पर गुरु-शिष्य रट लगाये जा रहे थे—

यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः

(जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है)

पंडितानी जी झल्लाई हुई थीं ही। उन्हें पं० जी को छकाने की एक तरकीब सूझ गई। उन्होंने झट एक घड़े में धुआँ भर कर उसे ढक्कन से बंद कर दिया। फिर पं० जी के सामने जाकर घड़ा पटक दिया। घड़ा फटते ही धुआँ निकलने लगा। पंडितानी जी ने पूछा—

अत्र धूमः कुत्र वह्निः ?

(यहाँ तो धुआँ है, आग कहाँ है ?)

पंडित जी और विद्यार्थी, सभी सन्न रह गये। यह बात तो आजतक सूत्रकार गौतम, भाष्यकार वात्स्यायन, वार्त्तिककार उद्योतकर, टीकाकार वाचस्पति, किसी को नहीं सूझी थी। एक स्त्री ने सभी आचार्यों को खंडित कर दिया! अब तो इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा, नहीं तो लोग कहेंगे कि पंडित जी अपनी पत्नी से परास्त हो गए! यह सोचकर पंडित जी ने पत्नी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। बोले—"यह धुआँ तो अपने मूल (अपनी जड़ अर्थात् आग) से कटा हुआ है। मेरी प्रतिज्ञा है कि

यत्र मूलावच्छेदेन धूमः तत्र वह्निः

(अर्थात् जहाँ धुआँ अपनी जड़ से संयुक्त रहेगा, वहाँ आग अवश्य ही रहेगी)।"

पंडितानी जी ने फिर शंका की—जहाँ धुआँ अपनी जड़ (आग) से संयुक्त रहेगा, वहाँ तो आग प्रत्यक्ष ही रहेगी। फिर अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जायगी ?

तब इस शंका का समाधान करने के लिए पंडितजी को दूसरी अवच्छेदकता लगानी पड़ी। इस प्रकार पंडितजी एक-एक कर अवच्छेदकता लगाने लगे और पंडितानीजी कोई-न-कोई कमी दिखाकर उसे काटती गई। अंततोगत्वा जब कई अवच्छेदकताएँ लगाई गई, तब जाकर सिद्ध हुआ कि

यत्र एतत् प्रकारकः धूमः तत्र एतत् प्रकारकः वह्निः

(जहाँ अमुक प्रकार का धुआँ रहेगा, वहाँ अमुक प्रकार की आग रहेगी।)

इस तरह अवच्छेदकता का सूत्रपात एक दाम्पत्य परिहास से हुआ और नव्यन्याय के प्रवर्तक पं० गंगेश उपाध्याय को तत्त्वचिन्तामणि लिखने की प्रेरणा मिली।

× × × ×

नव्यन्याय में वाक्यार्थ के कैसे सूक्ष्म विश्लेषण किए गए हैं। उनकी, स्थाली पुलाक न्याय से, कुछ चाशनी चखाई जा रही है। दो वाक्य लीजिए,

कटोरे में मधु है

मधु में मिठास है

यहाँ दोनों वाक्यों में अधिकरण कारक की विभक्ति (में) एक-सी रहते हुए भी, दोनों के अर्थों में भिन्नता है।

कटोरे और मधु में आधाराधेय संबंध होते हुए भी अविनाभाव संबंध नहीं है, अर्थात् कटोरा बिना मधु के भी हो सकता है और मधु बिना कटोरे के भी। दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। किसी समय कटोरे में मधु डाला गया, तब से कटोरे के साथ मधु का संयोग हो गया। लेकिन मधु में मिठास के साथ यह बात नहीं है। मधु में मिठास अन्तर्निहित या समवेत है। कटोरे से मधु अलग किया जा सकता है, किंतु मधु से मिठास अलग नहीं की जा सकती। यहाँ अविच्छेद्य संबंध है। कटोरे के साथ मधु का 'संयोग' संबंध है। मधु के साथ मिठास का समवाय संबंध है। कटोरे के अमुक भाग में (एतद्देशावच्छेदेन) और अमुक समय-विशेष में (एतत्कालावच्छेदेन) मधु है। किन्तु मिठास मधु के सभी अंशों में (सर्वदेशावच्छेदेन) और सर्वदा (सर्वकालावच्छेदेन) व्याप्त है।

इसी तरह एक दूसरा वाक्य लीजिए—

पर्वत अग्नियुक्त है

इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट रूप से समझने के लिए कई प्रश्न उठते हैं।

(१) क्या सम्पूर्ण पर्वत अग्नियुक्त है या उसका कोई अंश ?

(२) क्या पर्वत सदा अग्नियुक्त है या केवल इस समय ?

(३) क्या पर्वत में अग्नि समवेत है या संयुक्त ?

यदि वह ज्वालामुखी पर्वत है तो प्रथम-कोटिक विकल्प लागू होंगे (अर्थात् अग्नि संपूर्ण पवत में सर्वदा समवेत है ।, यदि किसी सामान्य पर्वत पर आग जल रही है, तो द्वितीय-कोटिक विकल्प लागू होंगे .अर्थात् अग्नि पर्वत के अमुक अंश में अमुक समय में संयुक्त है। । केवल वाक्य का रूप देखने से अर्थ स्पष्ट नहीं होता । इसलिए अवच्छेदक लगाना पड़ता है । यदि पहला अर्थ अभिप्रेत हो, तो नैयायिक की भाषा में कहेंगे—सर्वदेशावच्छेदेन, सर्वकालावच्छेदेन, समवायसंबंधावच्छेदेन पर्वतः वह्निमान् । यदि दूसरा अर्थ विवक्षित हो, तो कहेंगे—एतद्देशावच्छेदेन, एतत्कालावच्छेदेन, संयोगसंबंधावच्छेदेन पर्वतः वह्निमान् ।

इस प्रकार दैशिक, कालिक एवं सांसर्गिक अवच्छेदकताओं के द्वारा वाक्यार्थ का निरूपण किया जाता है ।

अवच्छेदकता का व्यवहार मुख्यतः निम्नोक्त प्रसंगों में होता है—

(१) उद्देश्यता—विधेयता

(२) विशेष्यता—प्रकारता

(३) आधारता—आधेयता

(४) अनुयोगिता—प्रतियोगिता

(५) कारणता—कार्यता

(६) संसर्गता

(१) उद्देश्यता-विधेयता

पर्वत वह्निमान् है

यहाँ पर्वत उद्देश्य (Subject) है और वह्नि विधेय (Predicate)। दोनों के यथार्थ संबंध को निरूपित करने के लिए अवच्छेदकता किस रूप में सहायक होती है, इसका कुछ उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है ।

पर्वत अग्नियुक्त है ।

यहाँ पर्वत में उद्देश्यतावच्छेदक धर्म है और अग्नि में विधेयतावच्छेदक धर्म । अब दूसरी दृष्टि से देखिए । मान लीजिए, हम कोई हेतु देकर उपर्युक्त बात को सिद्ध करना चाहते हैं । जैसे, पर्वत अग्नियुक्त है, क्योंकि वह धूमवान् है । तब वही वाक्य (पर्वत अग्नियुक्त है) प्रतिज्ञा अर्थात् साध्य बन जायगा ।

उस अवस्था में पर्वत में पक्षतावच्छेदकधर्म चला आयगा और अग्नि में साध्यता-वच्छेदक धर्म।

अब मान लीजिए कि उपर्युक्त वाक्य के आधार पर हम कोई निष्कर्ष निकालना चाहते हैं। जैसे, पर्वत अग्नियुक्त है, इसलिए वह उष्ण है। ऐसी अवस्था में वह वाक्य (पर्वत अग्नियुक्त है) हेतु-वाक्य बन जायगा। ऐसी अवस्था में अग्नि में हेतुत्वावच्छेदक धर्म चला आयगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही पद भिन्न-भिन्न संबंधों से भिन्न-भिन्न अवच्छेदक धर्म ग्रहण करता है। जैसे एक ही नारी भिन्न-भिन्न संबंधों से माता, स्त्री या पुत्री बन जाती है, उसी तरह एक ही आग उद्देश्य की अपेक्षा से 'विधेय', हेतु की अपेक्षा से 'साध्य', और साध्य की अपेक्षा से 'हेतु' बन जाती है। अवच्छेदक लगाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य का कौन पद किस संबंध से है।

(२) विशेषण-विशेष्यता

ज्ञान सविषयक होता है अर्थात् उसका कुछ-न-कुछ विषय अवश्य होता है। विषय का अर्थ है विशेषण सिनोति बध्नाति इति विषयः (जो अपने में किसी ज्ञान को बांध ले)।

विषयता तीन प्रकार की होती है—

(क) विशेष्यता

(ख) विशेषणता (प्रकारता)

(ग) संसर्गता

विशेष्यता का अर्थ है विशेषेण भिद्यते अर्थात् जिसमें विशेषण लग सके)। विशेषण का अर्थ है, विशेष्यते भिद्यते अनेन, अर्थात् जिसके द्वारा विशेष्य का गुण प्रकट हो सके।

विशेषण विशिष्टता-बोधक और व्यावर्त्तक होता है। जैसे नीलो घटः। यहाँ नील विशेषण घट को नीलेतर घटों से पृथक् करता है। इसी तरह (द्वैधीकरण के द्वारा) विशेष्य का व्यावर्तन करना विशेषण का काम है। विशेषण को व्यभिचारी होना चाहिए। नीलत्व कुछ घटों में रहता है, कुछ घटों में नहीं रहता। यदि वह अव्यभिचारी रहता (अर्थात् विशेष्य मात्र में पाया जाता,) तो उससे घट की कोई विशेषता सूचित नहीं होती। जैसे 'घट' में 'मूर्त्त'

विशेषण लगाने से किसी अनधिगत विषय का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि जितने भी घट हैं, सभी मूर्त्त ही होते हैं।

एक वाक्य लीजिये—अयं घटः। यहाँ अयम् (यह) को विशेषण मानते हैं तो घटः (घड़ा) विशेष्य बन जायगा। यदि 'यह' को विशेष्य मानते हैं, तो 'घट' विशेषण बन जायगा। इस तरह 'घट' में विशेष्यता या प्रकारता दोनों हो सकती हैं। यहाँ क्या है, यह स्पष्ट करने के लिए अवच्छेदकता का प्रयोग करना पड़ेगा। 'अयं घटः' का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—

(क) इदमर्थ निष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता (अर्थात् 'यह' विशेषण से निर्धारित 'घट')। यहाँ 'घटत्व' विशेष्यतावच्छेदक धर्म है। अथवा (ख) घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित इदमर्थ निष्ठ विशेष्यता (अर्थात् घट' विशेषण से युक्त 'यह')। यहाँ 'घटत्व' प्रकारतावच्छेदक धर्म है।

इस तरह अवच्छेदक के सहारे विशेष्यता-प्रकारता का भेद स्पष्ट किया जाता है।

(३) आधारता-आधेयता

पर्वत वह्निमान् है

यहाँ 'पर्वत' आधार है और 'वह्नि' आधेय। आधाराधेय संबंध दो प्रकार का होता है।

(क) व्याप्यवृत्ति—जहाँ आधेय संपूर्ण आधार में व्याप्त रहता है। जैसे, तिल में तेल। यहाँ तिल के यावतीय प्रदेश में तेल विद्यमान रहता है। (तिलस्य सर्वानवयवान् व्याप्य तैलं विद्यते।)

(ख) अव्याप्यवृत्ति—जहाँ आधेय आधार के केवल एक देश में रहता है; जैसे, पेड़ पर बंदर। यहाँ डाल के संबंध से बंदर का पेड़ से संयोग है, जड़ के संबंध से नहीं। (शाखावच्छेदेन कपि-संयोगः, न मूलावच्छेदेन।)

एक ही वस्तु का एक ही अधिकरण में देश-काल के भेद से भाव और अभाव, दोनों कहा जा सकता है। भाव और अभाव में निषेध्य-निषेधक भाव है। दोनों का साहचर्य परस्पर-विरोधी है। परन्तु इस विरोध का परिहार अवच्छेदकता लगाने से हो जाता है। देवदत्त के शरीर पर वस्त्र है भी और और नहीं भी है। हाथ पर कपड़ा है, मुँह पर नहीं है। (हस्तावच्छेदेन वस्त्रं, न मुखावच्छेदेन)। इसलिए कहा गया है—भावाभावयोरेकत्र समावेशार्थमेव अवच्छेदकता स्वीकारः।

उस अवस्था में पर्वत में पक्षतावच्छेदकधर्म चला आयगा और अग्नि में साध्यता-वच्छेदक धर्म ।

अब मान लीजिए कि उपर्युक्त वाक्य के आधार पर हम कोई निष्कर्ष निकालना चाहते हैं। जैसे, पर्वत अग्नियुक्त है, इसलिए वह उष्ण है। ऐसी अवस्था में वह वाक्य (पर्वत अग्नियुक्त है) हेतु-वाक्य बन जायगा। ऐसी अवस्था में अग्नि में हेतुत्वावच्छेदक धर्म चला आयगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही पद भिन्न-भिन्न संबंधों से भिन्न-भिन्न अवच्छेदक धर्म ग्रहण करता है। जैसे एक ही नारी भिन्न-भिन्न संबंधों से माता, स्त्री या पुत्री बन जाती है, उसी तरह एक ही आग उद्देश्य की अपेक्षा से 'विधेय', हेतु की अपेक्षा से 'साध्य', और साध्य की अपेक्षा से 'हेतु' बन जाती है। अवच्छेदक लगाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य का कौन पद किस संबंध से है।

(२) विशेषण-विशेष्यता

ज्ञान सविषयक होता है अर्थात् उसका कुछ-न-कुछ विषय अवश्य होता है। विषय का अर्थ है विशेषण सिनोति बध्नाति इति विषयः (जो अपने में किसी ज्ञान को बांध ले)।

विषयता तीन प्रकार की होती है—

(क) विशेष्यता
(ख) विशेषणता (प्रकारता)
(ग) संसर्गता

विशेष्यता का अर्थ है विशेषेण भिद्यते अर्थात् जिसमें विशेषण लग सके)। विशेषण का अर्थ है, विशेष्यते भिद्यते अनेन, अर्थात् जिसके द्वारा विशेष्य का गुण प्रकट हो सके।

विशेषण विशिष्टता-बोधक और व्यावर्त्तक होता है। जैसे नीलो घटः। यहाँ नील विशेषण घट को नीलेतर घटों से पृथक् करता है। इसी तरह (द्वैधीकरण के द्वारा) विशेष्य का व्यावर्तन करना विशेषण का काम है। विशेषण को व्यभिचारी होना चाहिए। नीलत्व कुछ घटों में रहता है, कुछ घटों में नहीं रहता। यदि वह अव्यभिचारी रहता (अर्थात् विशेष्य मात्र में पाया जाता,) तो उसमे घट की कोई विशेषता सूचित नहीं होती। जैसे 'घट' में 'मूर्त'

विशेषण लगाने से किसी अनधिगत विषय का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि जितने भी घट हैं, सभी मूर्त ही होते हैं।

एक वाक्य लीजिये—अयं घटः। यहाँ अयम् (यह) को विशेषण मानते हैं तो घटः (घड़ा) विशेष्य बन जायगा। यदि 'यह' को विशेष्य मानते हैं, तो 'घट' विशेषण बन जायगा। इस तरह 'घट' में विशेष्यता या प्रकारता दोनों हो सकती हैं। यहाँ क्या है, यह स्पष्ट करने के लिए अवच्छेदकता का प्रयोग करना पड़ेगा। 'अयं घटः' का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—

(क) इदमर्थ निष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता (अर्थात् 'यह' विशेषण से निर्धारित 'घट')। यहाँ 'घटत्व' विशेष्यतावच्छेदक धर्म है। अथवा (ख) घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित इदमर्थ निष्ठ विशेष्यता (अर्थात् घट' विशेषण से युक्त 'यह')। यहाँ 'घटत्व' प्रकारतावच्छेदक धर्म है।

इस तरह अवच्छेदक के सहारे विशेष्यता-प्रकारता का भेद स्पष्ट किया जाता है।

(३) आधारता-आधेयता

पर्वत वह्निमान् है

यहाँ 'पर्वत' आधार है और 'वह्नि' आधेय। आधाराधेय संबंध दो प्रकार का होता है।

(क) व्याप्यवृत्ति—जहाँ आधेय संपूर्ण आधार में व्याप्त रहता है। जैसे, तिल में तेल। यहाँ तिल के यावतीय प्रदेश में तेल विद्यमान रहता है। (तिलस्य सर्वानवयवान् व्याप्य तैलं विद्यते।)

(ख) अव्याप्यवृत्ति—जहाँ आधेय आधार के केवल एक देश में रहता है; जैसे, पेड़ पर बंदर। यहाँ डाल के संबंध से बंदर का पेड़ से संयोग है, जड़ के संबंध से नहीं। (शाखावच्छेदेन कपि-संयोगः, न मूलावच्छेदेन।)

एक ही वस्तु का एक ही अधिकरण में देश-काल के भेद से भाव और अभाव, दोनों कहा जा सकता है। भाव और अभाव में निषेध्य-निषेधक भाव है। दोनों का साहचर्य परस्पर-विरोधी है। परन्तु इस विरोध का परिहार अवच्छेदकता लगाने से हो जाता है। देवदत्त के शरीर पर वस्त्र है भी और और नहीं भी है। हाथ पर कपड़ा है, मुँह पर नहीं है। (हस्तावच्छेदेन वस्त्रं, न मुखावच्छेदेन)। इसलिए कहा गया है—भावाभावयोरेकत्र समावेशार्थमेव अवच्छेदकता स्वीकारः।

मान लीजिए, भूमि पर एक घट है। किन्तु वह घट देवदत्त का नहीं है। यहाँ सामान्य अर्थ में घट का भाव है, विशेष अर्थ में घट का अभाव है। जहाँ कोई घट नहीं है, वहाँ घट का सामान्याभाव है, और उसकी प्रतियोगिता (घट) का अवच्छेदक है घटत्व। जहाँ घटविशेष का अभाव है, वहाँ घटविशेषाभाव प्रतियोगिता का अवच्छेदक है 'तद्व्यक्तित्व' (वह घड़ापन जो देवदत्त के घट में है)। इसी प्रकार अवच्छेदकता के सहारे सामान्य घटाभाव में और विशेष घटाभाव में भेद किया जाता है।

सामान्याभाव और विशेषाभाव का भेद समझना आवश्यक है, नहीं तो कोई ऐसी शंका कर सकता है कि पर्वत पर आग है; किन्तु रसोईघर की आग तो नहीं है, तब फिर धुएँ और आग में समानाधिकरण्य कहाँ रहा? ऐसी आपत्ति का निराकरण अवच्छेदक के द्वारा किया जा सकता है। पर्वत पर जो वह्नि सिद्ध करना है, उसका अवच्छेदक धर्म है 'वह्नित्व', न कि 'महानसीयत्व'। महानसीयत्व तो औपाधिक गुण है। हमें उपाधि छोड़कर शुद्ध साध्यतावच्छेदक धर्म लेना चाहिए। इस विश्लेषण के फलस्वरूप व्याप्ति की परिभाषा में व्यापकस्य व्याप्याधिकरणे उपाध्यभावविशिष्टः सम्बन्धः ऐसा परिष्कार किया जाता है।

(४) अनुयोगिता-प्रतियोगिता

आधाराधेय संबंध दो प्रकार का होता है—

(क) भावात्मक—यथा, घटवद्भूतलम् (जमीन पर घड़ा है)

(ख) अभावात्मक - यथा, घटाभाववद्भूतलम् (जमीन पर घड़ा नहीं है)

जिस आधार में अभाव रहता है, उसे 'अनुयोगी' कहते हैं जिस वस्तु का अभाव रहता है, उसे 'प्रतियोगी' कहते हैं। (यस्मिन् अभावः सः अनुयोगी यस्याभावः सः प्रतियोगी।)

उपर्युक्त वाक्य में 'भूतल' अनुयोगी और 'घट' प्रतियोगी है अर्थात् घटाभाव की प्रतियोगिता 'घट' में और अनुयोगिता 'भूतल' में है।

घट का अवच्छेदक धर्म है 'घटत्व'। अवच्छेदक भी विशेषण की तरह व्यावर्त्तक होता है। जिस प्रकार 'नील' विशेषण घट को नीलेतर घटों से व्यावृत्त करता है, उसी प्रकार 'घटत्व' भी घट को अ-घट या घटेतर पदार्थों से पृथक् करता है।

घट में और भी गुण रहते हैं, यथा मूर्तत्व, मृत्तिकामयत्व। किन्तु यह घट के अवच्छेदक धर्म नहीं कहे जा सकते। क्योंकि मूर्तत्व घटेतर-पदार्थों (घट आदि) में भी पाया जाता है। इस तरह वह अतिरिक्तवृत्तिक (Too wide) है। इसी प्रकार मृत्तिकामयत्व (मिट्टी का बना हुआ होना) स्वर्ण-घटों में नहीं पाया जाता। अतः वह न्यूनवृत्तिक (Too Narrow) है। अवच्छेदक को अवच्छेद्य के साथ समव्याप्तिक (Co-extensive) रहना चाहिए। उसकी व्याप्ति न ज्यादा हो, न कम। इसलिए अवच्छेदक को 'अन्यूनाधिकवृत्तिक' कहा जाता है।

अब 'घटाभाववद्भूतलम्' पर आइए। इस वाक्य में प्रतियोगितावच्छेदक धर्म है घटत्व, द्रव्यत्व आदि गुण 'घटाभावप्रतियोगितावच्छेदक' नहीं कहे जा सकते।

यहाँ कोई प्रश्न उठा सकता है कि 'द्रव्यवद्भूतलम्।' यहाँ द्रव्यनिष्ठ प्रकारता निरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यता है, और चूंकि द्रव्य में घट का भी अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए यहाँ घटरूपद्रव्यनिष्ठ प्रकारता निरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यता भी है। अतएव, 'घटाभाववद्भूतलम्' यह वाक्य द्रव्यवद्भूतलम् से वाधित हो जायगा।

किन्तु ऐसा कहना समीचीन नहीं होगा। क्योंकि 'घटाभाववद्भूतलम्' यहाँ घट का अभाव घटत्वावच्छेदेन है, न कि द्रव्यत्वावच्छेदेन। यह उसी वाक्य से वाधित हो सकता है, जो उसी अवच्छेदक (यानी घटत्व) से घटाभाव की प्रतियोगिता का भाव सूचित करे। इस तरह घटाभावसूचक वाक्य का प्रतिवाधक वाक्य होगा 'घटवद्भूतलम्'। क्योंकि यहाँ घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यता है, न कि द्रव्यत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित घटनिष्ठ प्रकारता निरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यता।

संक्षेप में यों कहिए कि घटाभाववद्भूतलम्' 'द्रव्यवद्भूतलम्' से वाधित नहीं होगा। क्योंकि यद्यपि द्रव्य-विशिष्ट भूतल-विषयक ज्ञान घटनिष्ठ प्रकारता निरूपक है, तथापि वह प्रकारता घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित नहीं है। अतः, दोनों वाक्यों में प्रतिवध्यप्रतिबाधक भाव नहीं है।

इस प्रकार प्रतियोगितावच्छेदक धर्म की सहायता से अभाव का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

(५) कारणता-कार्यता

कार्यकारण भाव को स्पष्ट रूप से समझने में भी अवच्छेदक का व्यवहार सहायक होता है। तन्तु पट का कारण है। यहाँ कारणत्वावच्छेदक धर्म है 'तन्तुत्व' और कार्यत्वावच्छेदक धर्म है 'पटत्व'। तन्तु में द्रव्यत्व, रूपवत्त्व आदि गुण भी हैं। किन्तु ये कारणत्वावच्छेदक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि वे पट की कारणता के अतिरिक्त अन्य आधारों में भी रहते हैं। इसलिए वे कार्यतावच्छेदक नहीं कहे जा सकते।

इसी प्रकार घट की कारणता दंड में है। उस कारणता का अवच्छेदक है दंडत्व। उस दंड का व्यक्तित्व घट-कारणता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता। क्योंकि घट की कारणता दंड मात्र में है, केवल इस दंड या उस दंड में नहीं। किन्तु तद्व्यक्तित्व केवल दंड-विशेष में (जैसे, देवदत्त के डंडे में) है। इसी प्रकार दंड का रूप-विशेष (सफेद या काला रंग), मृत्तिका का वाहन-विशेष (घोड़ा या गधा) आदि में कारणतावच्छेदक धर्म नहीं है। वे अन्यथासिद्ध हैं।

जहाँ कारण-सामग्री के भिन्न-भिन्न अवयवों को दिखाना होता है, वहाँ भी अवच्छेदक का व्यवहार किया जाता है। जैसे प्रत्यक्ष का कारण है किसी वस्तु के साथ नेत्र का संयोग होना। परन्तु वस्तु में रूप का होना भी आवश्यक है। साथ ही, प्रकाश का रहना भी रूप को अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। अतएव प्रत्यक्ष का कारण है—

रूपावच्छिन्न प्रकाश संयोगावच्छिन्न चक्षुः संयोगः।

इस प्रकार कारणता और कार्यता को सुस्पष्ट रूप से समझने के लिए अवच्छेदकता सहायक होती है।

(६) संसर्गता

संसर्ग दो प्रकार का होता है।

(क) समानाधिकरण संबंध, यानी दो वस्तुओं का एक आधार में रहना, जैसे, घट में घटत्व और द्रव्यत्व दोनों एक साथ रहते हैं।

(ख) व्यधिकरण संबंध, यानी दो वस्तुओं का एक आधार में नहीं रहना, जैसे, मनुष्यत्व और पशुत्व, दोनों एक आधार में नहीं रहते।

किन्तु सामान्याधिकरण्य (Co-existence) का अर्थ समव्याप्ति (Co-extensiveness) नहीं है। जैसे, जहाँ-जहाँ घटत्व है, वहाँ-वहाँ द्रव्यत्व है।

किन्तु जहाँ-जहाँ द्रव्यत्व है, वहाँ-वहाँ घटत्व है', ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि द्रव्यत्व पट आदि घटेतर पदार्थों में भी रहता है। द्रव्यत्व घटत्व का सहचर है, किन्तु एकान्त सहचर नहीं है। वह अन्य पदार्थों (जैसे पटत्व आदि) का भी सहचर है। इस तरह घटत्व और द्रव्यत्व में समव्याप्ति नहीं, विषम व्याप्ति है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि द्रव्यत्व घटत्व का समानाधिकरण होते हुए भी अतिरिक्तवृत्तिक है (अर्थात् उसकी व्याप्ति घटत्व की व्याप्ति से अधिक है)। इसी तरह घटत्व द्रव्यत्व का समानाधिकरण होते हुए भी न्यून-वृत्तिक है (अर्थात् उसकी व्याप्ति द्रव्यत्व की व्याप्ति से कम है)। अवच्छेदक को केवल समानाधिकरण ही नहीं, अपितु समव्याप्तिक भी होना चाहिए। अर्थात् उसकी व्याप्ति न तो अवच्छेदक की व्याप्ति से कम होनी चाहिए, न अधिक। (अन्यूनानतिरिक्त वृत्ति धर्मस्यैव अवच्छेदकत्वम्)।

इस प्रकार नव्य न्याय में अवच्छेदकता, प्रकारता, पक्षता आदि के सूक्ष्माति-सूक्ष्म विवेचन भरे पड़े हैं। जो लोग पाश्चात्य दर्शन में मूर, रसेल, विटगेंस्टाइन, राइल आदि के विश्लेषण से प्रभावित होते हैं, उन्हें चाहिए कि गंगेश, पक्षधर, शंकर, रघुनाथ, जगदीश, गदाधर आदि के विवेचनों को भी देखें। परन्तु यह अमूल्य साहित्य संस्कृत की संदूक में बंद है। उसकी चाभी कुछ इने-गिने पंडितों के हाथ में है। 'तत्त्वचिन्तामणि', 'आलोक', 'दीधिति' की प्रभा पिटारी के अंदर ही चमक रही है। इन रत्नों को बाहर निकाल कर आधुनिक ढंग से सजा-संवार कर अन्तर्राष्ट्रीय विचार जगत् में लाकर रखने की आवश्यकता है; तभी इनका यथार्थ मूल्यांकन होगा। किन्तु अन्य भाषाओं की कौन कहे, इन्हें अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी नहीं लाया जा सका है।

मैं विद्वानों के समक्ष एक नम्र निवेदन रखना चाहता हूँ। वह यह है कि नव्यन्याय का साहित्य सुगम बनाकर हिन्दी संसार में लाया जाय। इस दुस्तर कार्य को अकादमी जैसी संस्थाएँ ही सुचारु रूप से कर सकती हैं। सबसे पहले नव्य न्याय के प्रवर्त्तक गंगेश उपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' का सरल अनुवाद योग्य विद्वानों से करवाया जाय। फिर टीका-ग्रंथों का। परन्तु केवल 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' से काम नहीं चलेगा।

इस प्रसंग में मुझे एक मनोरंजक घटना का स्मरण हो आता है। १९४९ में अखिल भारतीय दर्शन महासभा (Indian Philosophical Congress)

का अधिवेशन पटना में हुआ था। उस अवसर पर एक पंडित सभा का आयोजन हुआ था। मैंने समागत विद्वानों से अनुरोध किया था कि वे सरल हिन्दी में लोगों को अवच्छेदकता का तात्पर्य समझावें। उनमें जो लेख पढ़े गए, उनमें से एक का कुछ अंश नमूने के रूप मे उद्धृत किया जा रहा है।

घटाभावाभाव का प्रतियोगी घटाभाव है, प्रतियोगितावच्छेदक है घटाभावनिष्ठ प्रतियोगिता, प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक है घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता, इसलिए घटाभावाभाव का घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकतानिष्ठावच्छेदकता निरूपित प्रतियोगित्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित प्रतियोगिता का भाव अर्थ है। घटाभावाभावाभावका प्रतियोगी हुआ घटाभावाभाव, प्रतियोगितावच्छेदक हुआ घटाभावनिष्ठ प्रतियोगित्वनिष्ठ अवच्छेदकता, तदवच्छेदकता है घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकतानिष्ठ अवच्छेदकता, इसलिए घटाभावाभाव का मतलब हुआ घटत्व निष्ठावच्छेदकतानिष्ठावच्छेदकता निरूपित प्रतियोगित्व निष्ठावच्छेदकतानिष्ठावच्छेदकता निरूपित प्रतियोगिता का अभाव।

१९५० में बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गया अधिवेशन में दर्शन-परिषद् के अध्यक्षीय भाषण में उपर्युक्त उद्धरण देते हुए मैंने परिहास में कहा था—यह कुछ मजाक नहीं, चिकारी नहीं, साँप-विच्छू का मंत्र नहीं, खड़ी का लच्छा नहीं, यह नव्य न्याय की टकसाली भाषा है। आवें छायावादी, रहस्यवादी, प्रगतिवादी और लगावे इसका अर्थ। दो-चार शब्दों में ही आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा। शब्दों के इस घटाटोप से अर्थ का दोहन करने के लिए कोई वैसा ही धुरन्धर 'दोग्धा गोपाल नन्दनः' भी होना चाहिए।

नव्यन्याय के 'अवच्छेदकता', 'प्रकारता' आदि विषय जटिल अवश्य हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे सरल हिन्दी में, रोचक ढंग से, समझाए ही नहीं जा सकें। रूखे विषयों में भी इस तरह घी-शक्कर का योग दिया जा सकता है कि वे लोहे के चने नहीं होकर चने के लड्डू बन जाएँ। मैं आशा करता हूँ कि योग्य विद्वान् इस दिशा में अग्रसर होंगे और नव्यन्याय का पूरा साहित्य सुगम बनाकर हिन्दी में लाने की चेष्टा करेंगे। यदि उसके साथ-साथ आधुनिक तार्किक विश्लेपण का भी तुलनात्मक विवेचन रहे, तो मणिकांचन योग हो जाए।

—०—

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद

पं० आद्याचरण झा

संस्कृत-साहित्य में शाब्दबोध का प्रकरण बड़ा ही जटिल और वक्र है। व्याकरण, न्याय और मीमांसा, इन तीनों शास्त्रों में पृथक्-पृथक् रूप से विशेष रूप में शाब्दबोध का विस्तृत विचार किया गया है। तीनों शास्त्रों के सम्मिलित रूप में परिशीलन और विवेचन से ही यथार्थतः 'शब्दबोध' संभव है। इनमें व्याकरण का पद-पदार्थों के विवेचन के कारण पदशास्त्र कहा जाता है। प्रमाणों के विवरण और विश्लेषण के कारण न्यायशास्त्र को 'प्रमाणशास्त्र' कहते हैं और वाक्यार्थ शैली के विशेष विवेचन के कारण मीमांसा को वाक्यशास्त्र कहा जाता है। इन तीनों शास्त्रों के ज्ञाता को 'पदवाक्य प्रमाणज्ञ' कहा जाता है।

अलङ्कारशास्त्र के किसी भी मूर्धन्यग्रन्थ में जहाँ वाक्यार्थ का प्रकरण आया है, वहाँ उक्त तीनों शास्त्रों की चर्चा किसी-न-किसी प्रकार अवश्य हो जाती है। इस तरह काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, रसगङ्गाधर, साहित्यदर्पण और वक्रोक्ति-जीवित आदि साहित्यशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थों में इसकी चर्चा विशेषतः आई है।

भारतीय काव्य साहित्य में वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की विशद विवेचना इन सभी ग्रन्थों में प्राप्त होती है। इसी प्रसंग में काव्यप्रकाशकार मम्मट ने द्वितीय उल्लास में लिखा है कि--

स्याद्वाचकोलाक्षणिकः शब्दोऽत्रव्यञ्जकस्त्रिधा।
वाक्यादयः तदर्थाःस्युः तात्पर्यार्थोऽपिकेषुचित्॥

अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक ये तीन प्रकार के शब्द हैं और उनके अर्थ को वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। इसके विपरीत किन्हीं के मत से 'तात्पर्यार्थ' भी एक अर्थ है। 'तात्पर्यार्थ' भी एक अर्थ है—इस पंक्ति पर गम्भीर टिप्पणी करते हुए मम्मट ने लिखा है कि "आकाङ्क्षा योग्यता-सन्निधि-वशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्" वाच्य एव वाक्यार्थ इति

अन्विताभिधानवादिनः।" मम्मट की यह पंक्ति यथार्थतः कुछ जटिल है। अतएव सर्वप्रथम जटिलता के इस फन्दे से निकलने के बाद ही अग्रिम विवेचन संभव है।

उपर्युक्त पंक्ति का तात्पर्य है कि पदार्थों का जो स्वरूप कथनीय है, वह स्वरूप आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा समन्वय करने के समय में अपदार्थ रूप में एक विशेष शरीर धारण करनेवाला 'तात्पर्य' नाम का अर्थ भी एक 'शक्ति' है—यह मीमांसक कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी पं० पार्थसारथिमिश्र आदि विद्वानों का मत है, जिन्हें 'अभिहितान्वयवादी' कहा जाता है।

इसके विपरीत मीमांसाचार्य प्रभाकर तथा उनके अनुयायी पं० शालिकनाथ मिश्र आदि विद्वान् उक्त 'तात्पर्यार्थ' नाम की शक्ति को नहीं मानते हैं। अतएव वे 'अन्विताभिधानवादी' कहे जाते हैं।

अब मैं यहाँ उक्त दोनों शब्दों के स्पष्ट अर्थों का विवेचन कर आगे बढ़ूँगा।

(क) अभिहितान्वयवादी--अभिहितस्य = कथितस्य परस्परम् अन्वयं वदति यः स अभिहितान्वयवादी - अर्थात् कथित पदार्थों के अन्वय को जो प्रतिपादन करे उसे 'अभिहितान्वयवादी' कहते हैं। इसका और भी स्पष्ट रूप यह हुआ कि किसी भी वाक्य में जो चार-पाँच या अनेक शब्द रहते हैं, वे अनेक अपने-अपने अर्थ को कहकर विरमित हो जाते है और बाद में उन सभी शब्दों को एकसूत्र में बाँधकर सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को प्रतिपादन करनेवाली शक्ति 'तात्पर्य' नाम की शक्ति अथवा 'तात्पर्यार्थ' है। यह शक्ति वाक्यों में आये हुए शब्दों में परस्पर कर्तृत्व कर्मत्वादि संसर्ग का बोध कराती है। जैसे—'छात्रः पठनाय विद्यालयं गच्छति'—इस वाक्य में 'छात्रकर्तृक-पठनोद्देश्यक विद्यालयाधिकरणक-गमनानुकूलव्यापारः'—इस समुदित अर्थ को प्रतिपादन करने वाली वही तात्पर्य शक्ति है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं। ये ही है 'अभिहितान्वयवादी।'

(ख) अन्विताभिधानवादी—अन्वितस्य = परस्परंमिलितस्यैव अभिधानं = कथनं वदति यः स 'अन्विताभिधानवादी' अर्थात्—वाक्यों में आये हुए परस्पर अन्वित होकर ही सामूहिक रूप में अर्थप्रकाशन करते हैं। इसके लिए किसी विशेष शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। फलतः 'छात्रः पठनाय

विद्यालयं गच्छति" इस वाक्य में "छात्रकर्तृक पठनोद्देश्यक विद्यालयाधिकरणक गमनानुकूल व्यापारः "इस समुदित अर्थ के साथ ही वाक्यार्थ उपस्थित है। ये ही हैं 'अन्विताभिधानवादी।

मीमांसाशास्त्र के आचार्य कुमारिलभट्ट और आचार्य प्रभाकर, ये दोनों पारगामी-विद्वान् माने गये हैं और इन दोनों के सिद्धान्त 'मीमांसाशास्त्र' के कर्मकाण्ड भाग में सर्वमान्य रहे हैं। अतएव ये दोनों पक्ष विचारणीय और मान्य हो जाते हैं और दोनों के अनुयायियों की भी कमी नहीं है।

इस प्रसंग में 'पदवाक्यप्रमाणपारावारीण' श्री जयन्तभट्ट-कृत 'न्यायमञ्जरी'—'गौतमसूत्रतात्पर्यविवृत्ति' नामक ग्रन्थ में विस्तृत रूप से इनका विवेचन किया गया है तथा नागाभट्ट के नाम से प्रसिद्ध श्री विश्वेश्वरसुधी द्वारा विरचित 'भाट्ट चिन्तामणि' नामक पुस्तक में भी इसकी थोड़ी चर्चा आयी है। इसके अतिरिक्त मीमांसाकोप मीमांसान्यायप्रकाश आदि ग्रन्थों में भी इन विषयों पर चर्चा है।

यहाँ मैं 'न्यायमञ्जरी' और 'भाट्ट-चिन्तामणि' के कुछ अंशों के आधार पर इन दोनों मतों का विवेचन कर रहा हूँ, जिसके अन्त में मेरा अपना भी दृष्टिकोण सन्निहित है। अभिहितान्वयवाद के समर्थन में तर्क देते हुए श्री जयन्तभट्ट कहते हैं कि 'अवापोद्वाप' (अनुभव के द्वारा आनुमानिक ऊहापोह) के द्वारा जैसे दो वयस्क व्यक्तियों के पास बैठा हुआ कोई बालक इन दोनों के वार्तालापों के पदपदार्थ से अनभिज्ञ रहने पर भी वाक्यार्थ का ज्ञान कर लेता है, जैसे—एक श्रेष्ठ वयस्क ने अपने से मध्यम वयस्क को कहा कि 'गामानय' गाय को ले आओ) वृषं नय (बैल को ले जा इन वाक्यों के पदार्थों के ज्ञान के बिना भी मध्यम-वयस्क के द्वारा किये गये कार्यों से वहाँ बैठा हुआ बालक जैसे बिना पद-पदार्थ-ज्ञान के भी वाक्यार्थ का ज्ञान कर लेता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण वाक्य से ही वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाने के कारण तात्पर्य नाम के अर्थ को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ में जयन्तभट्ट कहते हैं कि 'अवापोद्वापपरीक्षासवरेऽपि कदम्बप्रतीत्यनपायान्नह्येकमेव किंचिद्वाक्यमन्विताभिधायिपदग्रथितम्, तस्मान्नान्विताभिधानम्' अर्थात् भले ही उक्त प्रकार से मध्यम वयस्क के द्वारा किये गये कार्यों से वहाँ बैठा हुआ बालक अवापोदाप से सम्पूर्ण वाक्य की प्रक्रिया का ज्ञान कर तो लेता है, परन्तु उसे पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए पदपदार्थ के पारस्परिक-सम्बन्ध ज्ञान

इसी तरह सभा पदसमूह मिलकर ही वाक्यार्थ को प्रतिपादित करते हैं। जैसे—ट्रेन में चलनेवाले इसकी जिज्ञासा नहीं करते हैं कि धुरी, पहिया और पटरी किसने बनायी किन्तु, यात्री सम्पूर्ण गाड़ी की ही उपयोगिता को देखता और समझता है। इसी तरह सम्पूर्ण वाक्यार्थ की ही उपयोगिता को मिश्रित रूप में वक्ता या श्रोता समझते हैं।

यद्यपि अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' (अंगुली के छोर पर सौ हाथियों के झुंड हैं) तथा 'वह्निना सिञ्चति' (आग से सींचता है) का दोष जो अन्विताभिधान में दिये गये हैं वे वस्तुतः भ्रामक और अज्ञानतापूर्ण हैं, क्योंकि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त रहने पर ही पदसमूह वाक्य होता है और यहाँ योग्यता के अभाव से 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथ- शतमास्ते' या 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि दोष के उद्भावन की संभावना ही नहीं है।

इस तरह दोनों पक्षों के खण्डन-मण्डन के तर्क-वितर्क में जयन्तभट्ट ने पर्याप्त विवेचन किया है।

यद्यपि सिद्धान्ततः हमें या किसी जिज्ञासु को दोनों पक्षों का तर्क-वितर्क बड़े ही मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक प्रतीत होते हैं; किन्तु, अन्त में एक "विशिष्ट तात्पर्यशक्ति" के द्वारा परस्पर अन्वित अर्थ का ही अभिधान जो उपर्युक्त दोनों मतों से कुछ भिन्न सा है—युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि "न्यायमञ्जरी" और "भाट्ट चिन्तामणि" के निम्नांकित कुछ उद्धरणों और संकेतों से ऐसा ही उचित प्रतीत होता है। यथा—

(क) प्रकृतिप्रत्ययौ ह्येतदपेक्षेते परस्परम्।
पदं पदान्तरं तद्वद्वाक्यं वाक्यान्तरं तथा।

(ख) संहत्यकारि पक्षेतु दोषो नैकोऽपि युज्यते।
तेनायमुपगन्तव्यो मार्गो हि हतकंटकः।

(ग) सेयं व्युत्पत्तिमूला पदविसरसमुद्भिद्यमानाङ्कुरश्रीः।
संस्कारोदारपत्रा कुसुमचयवती प्रोल्लसद्भिः पदार्थैः।
प्रज्ञावल्ली विशाला फलति फलमिदं स्वादुवाक्यार्थतत्त्वैः।
नैराकांक्ष्यं लसद्भिर्हृदयमुपगते यान्ति यस्मिन् पुमांसः।

(घ) पदात्पतति या चैषा प्रज्ञा ज्ञातुर्विजृम्भते।
पुष्पिता सा पदार्थेषु वाक्यार्थेषु फलिष्यति।

के लिए किसी शक्ति की आवश्यकता है और मान्यवृद्धों के व्यवहार में वाक्य से होनेवाली व्युत्पत्ति प्रत्येक पद में ही सीमित होती है। अन्यथा प्रत्येक वाक्य के लिए व्युत्पत्ति की अपेक्षा हो जायगी जो अनन्त और असम्भव हो जायगी। इतना ही नहीं, पदपदार्थ ज्ञान वाले को प्रायः प्रत्येक नवीन और प्राचीन रचनाओं के वाक्यार्थ की प्रतीति होती है जो बिना पदार्थज्ञान के सम्भव नहीं है। इसलिए 'अभिहितान्वयवाद' ही ठीक है। इतना ही नहीं श्री जयन्तभट्ट कहते हैं कि 'न हि रसविलासपूर्णोप्यब्धिर्मरोरतिरिच्यते, सलिल कार्यानिष्पत्तेः' अर्थात्—रसज्ञ व्यक्ति को सम्पूर्ण समुद्र भी मरुभूमि से भिन्न पदार्थ नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण समुद्र से जल का कार्य सम्पूर्ण नहीं होता। जल का कार्य तो जल के अंश से ही सम्पन्न होता है। इसी तरह सम्पूर्ण वाक्य से वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होकर पदार्थ द्वारा ही उस वाक्य की रसानुभूति होती है।

श्री जयन्तभट्ट कहते हैं कि अन्विताभिधानवादियों के लिए तो परस्पर अन्वित अर्थ का ही ज्ञान होता है, अतएव अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथ शतमास्ते'—(उँगली के छोर पर सौ हाथियों के झुण्ड हैं) इस वाक्य का भी परस्पर अन्वित रूप में ही पदार्थ उपस्थित होने से वाक्यार्थ हो जायगा, जो मेरे अभिहितान्वयवाद में सम्भव नहीं है, क्योंकि अंगुलियों के अग्रभाग का हाथियों के झुण्ड से समन्वय हो ही नहीं सकता। फलतः 'पदानि हि स्वमर्थमभिधायनिवृत्तव्यापाराणि अथेदानीम् अर्थावगता वाक्यार्थं सम्पादयन्तीति।' अर्थात्—प्रत्येक पद अपने-अपने अर्थ को कहकर निवृत्त होने के बाद तात्पर्य-शक्ति के द्वारा 'अब वाक्यार्थ अवगत हुआ' ऐसा ही प्रतीत होता है।

(२) अब 'अन्विताभिधानवाद' के तर्क के समर्थन में पण्डितप्रवर श्री जयन्तभट्ट कहते हैं कि—

अर्थप्रकरणप्राप्तं पदार्थान्तरवेदने,
पदं प्रयुज्यते यत् तत् वाक्यमेवोदितं भवेत्।
वक्ता वाक्यं प्रयुक्त च संसृष्टार्थ विवक्षया,
तदैव बुध्यते श्रोता तथैव च तटस्थितः।

अर्थात्—'संहत्या अर्थमभिदधति पदानिवा क्यं एवार्थः पदसमूहो वाक्यं इति वाक्यविदः। सेयं वाक्यस्य वाक्यार्थे व्युत्पत्तिः। यथा शिविकायाः उद्यन्तारः सर्वे शिविकामुद्यच्छन्ति तथा सर्वाण्येव पदानिवाक्यार्थमवबोधयन्ति, तदिदम् 'अन्विताभिधानम्'। अर्थात् जैसे पालकी को सभी वाहक मिलकर उठाते हैं

उसी तरह सभा पदसमूह मिलकर ही वाक्यार्थ को प्रतिपादित करते हैं। जैसे—ट्रेन में चलनेवाले इसकी जिज्ञासा नहीं करते हैं कि धुरी, पहिया और पटरी किसने बनायी किन्तु, यात्री सम्पूर्ण गाड़ी की ही उपयोगिता को देखता और समझता है। इसी तरह सम्पूर्ण वाक्यार्थ की ही उपयोगिता को मिश्रित रूप में वक्ता या श्रोता समझते हैं।

यद्यपि अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' (अंगुली के छोर पर सौ हाथियों के झुंड हैं) तथा 'वह्निना सिञ्चति' (आग से सींचता है) का दोष जो अन्विताभिधान में दिये गये हैं वे वस्तुतः भ्रामक और अज्ञानतापूर्ण हैं, क्योंकि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त रहने पर ही पदसमूह वाक्य होता है और यहाँ योग्यता के अभाव से 'अङ्गुल्यग्रेहस्तियूथ- शतमास्ते' या 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि दोष के उद्भावन की संभावना ही नहीं है।

इस तरह दोनों पक्षों के खण्डन-मण्डन के तर्क-वितर्क में जयन्तभट्ट ने पर्याप्त विवेचन किया है।

यद्यपि सिद्धान्ततः हमें या किसी जिज्ञासु को दोनों पक्षों का तर्क-वितर्क बड़े ही मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक प्रतीत होते हैं; किन्तु, अन्त में एक "विशिष्ट तात्पर्यशक्ति" के द्वारा परस्पर अन्वित अर्थ का ही अभिधान जो उपर्युक्त दोनों मतों से कुछ भिन्न सा है—युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि "न्यायमञ्जरी" और "भाट्ट चिन्तामणि" के निम्नांकित कुछ उद्धरणों और संकेतों से ऐसा ही उचित प्रतीत होता है। यथा—

(क) प्रकृतिप्रत्ययौ ह्येतदपेक्षेते परस्परम्।
पदं पदान्तरं तद्वद्वाक्यं वाक्यान्तरं तथा।

(ख) संहत्यकारि पक्षेतु दोषो नैकोऽपि युज्यते।
तेनायमुपगन्तव्यो मार्गो हि हतकंटकः।

(ग) सेयं व्युत्पत्तिमूला पदविसरसमुद्भिद्यमानाङ्कुरश्रीः।
संस्कारोदारपत्रा कुसुमचयवती प्रोल्लसद्भिः पदार्थैः।
प्रज्ञावल्ली विशाला फलति फलमिदं स्वादुवाक्यार्थतत्त्वैः।
नैराकांक्ष्यं लसद्भिर्हृदयमुपगते यान्ति यस्मिन् पुमांसः।

(घ) पदात्पतति या चैषा प्रज्ञा ज्ञातुर्विजृम्भते।
पुष्पिता सा पदार्थेषु वाक्यार्थेषु फलिष्यति।

तस्मादनया नीत्या सम्प्रत्ययो भवति साधुः ।
संसृष्टाश्च पदार्था वाक्यार्थः इतिन्यवेदि प्राक् ।

—(न्यायमञ्जरी)

इसी तरह 'भाट्ट चिन्तामणि' में पं० विश्वेश्वरसुधी कहते हैं कि "घटमानयेत्यादौ घटपदोपस्थितघटसामान्यस्य आनयनान्वयबाधासम्भवात् घटानयन विशेष एव वाक्यार्थः स च लाक्षणिकः अतो लाक्षणिक एव वक्यार्थः ।

'लाक्षणिक वाख्यार्थे तथा च पदसमुदायरूपवाक्यस्यपदजन्यपदार्थोपस्थिति द्वारा जनकत्वं इति वाक्यस्य वाक्यार्थ बोधे प्रामाण्यं युक्तमिति । अर्थात्— 'घटमानय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्य में घटपदोपस्थित घटसामान्य का आनयन असंभव है इसलिए घटविशेप का आनयन ही वाक्यार्थ हुआ सो लाक्षणिक वाक्यार्थ है। इस तरह लाक्षणिक वाक्यार्थ में पदसमुदायरूप वाक्यार्थ का ही वाक्यार्थ बोध में प्रामाण्य माना गया है ।

तीनों शास्त्रों में भी पदवाक्य और प्रमाण के सर्वोच्चनिर्णायक व्याकरण शास्त्र के महत्वपूर्ण 'स्फोटवाद' के सिद्धान्त में 'वाक्य-स्फोट' ही परमार्थ तत्व है, और अन्य सभी पदपदार्थ की परिकल्पना अविद्या, अज्ञान के कारण केवल काल्पनिक है । यही चरम निष्कर्ष है ।

यहाँ 'स्फोटवाद' सदृश विस्तृत गम्भीर विपय पर विवेचन करना मेरा लक्ष्य नहीं है । वह किसी दूसरे निवन्ध में यथासमय प्रदिपादित करने का प्रयास किया जायगा । किन्तु केवल उस सिद्धान्त के आधार पर भी मीमांसकों के इस 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' के शास्त्रार्थ के कारण जटिल बने हुए साहित्य शास्त्र में 'अभिधा' 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' के प्रकरण को स्वल्परूप में सरलीकरण का यह निवन्ध दिग्दर्शन मात्र है जो 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधान' के बीच का एक विशिष्टतात्पर्य मध्यम मार्ग का प्रतिपादक है ।

☆

स्फोटवाद

पाण्डेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी

स्फोटवाद वैयाकरणों का शब्दनित्यत्ववाद है। शब्द ब्रह्मवाद अथवा शब्दाद्वयवाद आदि स्फोटवाद के पर्याय है। वेदों को नित्य मानने से शब्द के नित्यत्व का प्रश्न उठता है। पौरुषेय-अपौरुषेयादि भिन्न मत वेदों के नित्यत्व-अनित्यत्वादि प्रश्नों के साथ भले ही संबंधित हों तथापि यह तो सर्वविदित ही है कि वेदों के प्रामाण्य को प्रकारान्तर से षड्दर्शनों ने स्वीकार किया है। आस्तिक दर्शन तो वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते ही हैं, नास्तिक दर्शनो में भी जैनादि अपनी परम्परा की प्राचीनता वेदों के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वेदों में जिन राजा ऋषभ की चर्चा की गई है, उन्हें जैन अपने आदि तीर्थंकरों में से एक तीर्थङ्कर के रूप में मानते हैं। यह भी कहा जाता है कि आदिकाल में शैवधर्म और जैनधर्म नितान्त अभिन्न थे। तात्पर्य यह है कि भारतीय दार्शनिक तथा धार्मिक परम्परा में वेदों का माहात्म्य प्रकारान्तर से सभी संप्रदायों ने स्वीकार किया है। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी प्रकार से वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार कर लेना शब्द के महत्त्व को अंगीकार कर लेना है। 'वेद' का अर्थ "ज्ञान" है और वाक्यपदीयकार के मत में सभी ज्ञान में शब्दानुगम अनुवर्त्तमान है। शब्दानुगम के बिना किसी भी प्रत्यय का भाव नहीं है। सारा ज्ञान शब्द से ही अनुविद्ध है। शब्दानुविद्ध ज्ञान ही सारे मानवज्ञान में हेतु है। कोई ज्ञान अथवा प्रत्यय शब्दहीन नहीं।[२]

---

१ चक्रवर्ती, कन्ट्रिब्यूशन ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म टू दि कल्चरल युनिटी ऑफ इण्डिया, वेदान्त केसरी, मद्रास, दिसम्बर, १९४५।

२. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। भगवद्भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय, प्रथम काण्ड, कारिका १२४, पृ० १११ एल्० रामलाल कपूर ट्रस्ट सोसाइटी, अनारकली, लाहौर, विक्रम संवत्सर १९९१।

तस्मादनया नीत्या सम्प्रत्ययो भवति साधुः।
संसृष्टाश्च पदार्था वाक्यार्थः इतिन्यवेदि प्राक्।

—(न्यायमञ्जरी)

इसी तरह 'भाट्ट चिन्तामणि' में पं० विश्वेश्वरसुधी कहते हैं कि "घटमानयेत्यादौ घटपदोपस्थितघटसामान्यस्य आनयनान्वयबाधासम्भवात् घटानयन विशेष एव वाक्यार्थः स च लाक्षणिकः अतो लाक्षणिक एव वक्यार्थः।

'लाक्षणिक वाख्यार्थे तथा च पदसमुदायरूपवाक्यस्यपदजन्यपदार्थोपस्थिति द्वारा जनकत्वं इति वाक्यस्य वाक्यार्थ बोधे प्रामाण्यं युक्तमिति। अर्थात्—'घटमानय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्य में घटपदोपस्थित घटसामान्य का आनयन असंभव है इसलिए घटविशेष का आनयन ही वाक्यार्थ हुआ सो लाक्षणिक वाक्यार्थ है। इस तरह लाक्षणिक वाक्यार्थ में पदसमुदायरूप वाक्यार्थ का ही वाक्यार्थ बोध में प्रामाण्य माना गया है।

तीनों शास्त्रों में भी पदवाक्य और प्रमाण के सर्वोच्चनिर्णायक व्याकरण शास्त्र के महत्वपूर्ण 'स्फोटवाद' के सिद्धान्त में 'वाक्य-स्फोट' ही परमार्थ तत्व है, और अन्य सभी पदपदार्थ की परिकल्पना अविद्या, अज्ञान के कारण केवल काल्पनिक है। यही चरम निष्कर्ष है।

यहाँ 'स्फोटवाद' सदृश विस्तृत गम्भीर विषय पर विवेचन करना मेरा लक्ष्य नहीं है। वह किसी दूसरे निबन्ध में यथासमय प्रदिपादित करने का प्रयास किया जायगा। किन्तु केवल उस सिद्धान्त के आधार पर भी मीमांसकों के इस 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' के शास्त्रार्थ के कारण जटिल बने हुए साहित्य शास्त्र में 'अभिधा' 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' के प्रकरण को स्वल्परूप में सरलीकरण का यह निबन्ध दिग्दर्शन मात्र है जो 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधान' के बीच का एक विशिष्टतात्पर्य मध्यम मार्ग का प्रतिपादक है।

☆

स्फोटवाद

पाण्डेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी

स्फोटवाद वैयाकरणों का शब्दनित्यत्ववाद हैं। शब्द ब्रह्मवाद अथवा शब्दाद्वयवाद आदि स्फोटवाद के पर्याय है। वेदों को नित्य मानने से शब्द के नित्यत्व का प्रश्न उठता है। पौरुषेय-अपौरुषेयादि भिन्न मत वेदों के नित्यत्व-अनित्यत्वादि प्रश्नों के साथ भले ही संबंधित हों तथापि यह तो सर्वविदित ही है कि वेदों के प्रामाण्य को प्रकारान्तर से षड्दर्शनों ने स्वीकार किया है। आस्तिक दर्शन तो वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते ही हैं, नास्तिक दर्शनो में भी जैनादि अपनी परम्परा की प्राचीनता वेदों के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वेदों में जिन राजा ऋषभ की चर्चा की गई है, उन्हें जैन अपने आदि तीर्थंकरों में से एक तीर्थङ्कर के रूप में मानते हैं। यह भी कहा जाता है कि आदिकाल में शैवधर्म और जैनधर्म नितान्त अभिन्न थे।[1] तात्पर्य यह है कि भारतीय दार्शनिक तथा धार्मिक परम्परा में वेदों का माहात्म्य प्रकारान्तर से सभी संप्रदायों ने स्वीकार किया है। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी प्रकार से वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार कर लेना शब्द के महत्त्व को अंगीकार कर लेना है। 'वेद' का अर्थ ''ज्ञान'' है और वाक्यपदीयकार के मत में सभी ज्ञान में शब्दानुगम अनुवर्त्तमान है। शब्दानुगम के बिना किसी भी प्रत्यय का भाव नहीं है। सारा ज्ञान शब्द से ही अनुविद्ध है। शब्दानुविद्ध ज्ञान ही सारे मानवज्ञान में हेतु है। कोई ज्ञान अथवा प्रत्यय शब्दहीन नहीं।[2]

---

१ चक्रवर्ती, कन्ट्रिब्यूशन ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म टू दि कल्चरल युनिटी ऑफ इण्डिया, वेदान्त केसरी, मद्रास, दिसम्बर, १९४५।

२. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। भगवद्भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय, प्रथम काण्ड, कारिका १२४, पृ० १११ एल्० रामलाल कपूर ट्रस्ट सोसाइटी, अनारकली, लाहौर, विक्रम संवत्सर १९९१।

ज्ञान के प्रकाश अथवा इसकी अभिव्यक्ति में निमित्त शब्द ही है। शब्दों के अभाव में ज्ञान अनभिव्यक्त ही रहता है। शब्द द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण शब्द और ज्ञान में तादात्म्य संबंध है। इसीलिए तो वेदों को शब्दब्रह्म नाम से भी अभिहित किया गया है। श्रीमद्भगवगीता (अध्याय ६, श्लोक ४४) में शब्दब्रह्म वेद का ही वाचक माना गया है। इसी कारण वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिए ऋषियों ने एक पृथक वेदाङ्ग बनाया, जिसे शिक्षा कहते हैं, और व्याकरण का वेदों को मुख मान लिया गया। व्याकरणं वेदानां मुखम्। शब्दों के शुद्ध उच्चारण के बिना अपेक्षित अर्थ का बोध नहीं होता। वैयाकरणों की दृष्टि में एक शब्द भी सम्यक् प्रकार से प्रकृतिप्रत्ययविभाग ज्ञानपूर्वक ज्ञात हो जाने तथा भलीभाँति प्रयुक्त होने पर इस लोक में तथा परलोक में यथेष्ट फलप्रद होता है। व्याकरण वेदों का प्रथमाङ्ग है और इसीलिए, वेद-रक्षा व्याकरण का प्रथम प्रयोजन है। वेदों के शब्द नित्य हैं तथा जिस क्रम में उनका उच्चारण होना चाहिए, वह क्रम भी निश्चित है। वेदपाठ को उच्चारणदोष से मुक्त कर उसे निश्चित रूप में सुरक्षित रखना क्रमपाठ, जटा-पाठ आदि का प्रयोजन था। षड्दर्शनों की परम्परा में वेदों की शब्दराशि के क्रम, पूर्वापर सम्बन्ध आदि निश्चित हैं और ऐसी धारणा है कि वेद के मन्त्र नित्य और अविनाशी हैं। ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता नहीं अपितु द्रष्टामात्र हैं। जिन्होंने वेदों के मन्त्रों का साक्षात्कार किया है, उन्हें ही 'ऋषि' कहा जाता है। यास्क के अनुसार :—

> साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।
>
> —(निरुक्त १·२०)

अर्थात् मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि हैं, जिन्हें धर्म का साक्षात्कार हुआ। यहाँ स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि धर्म ने स्वयं ऋषियों को अपना साक्षात् ज्ञान कराया। ऋषियों ने तत्पश्चात् मौखिक शिक्षा अथवा उपदेश द्वारा अपने वंशजों तथा शिष्यों को, जिन्हें धर्म का साक्षात्कार न हो सका, धर्मतत्व का ज्ञान कराया। श्रुतिप्रामाण्य के इस सन्दर्भ में शब्दों के उच्चारण तथा उनके अर्थ को यथाविधि सुरक्षित रखना तथा उन्हें समादर तथा श्रद्धा एवं भक्ति की दृष्टि से देखना वैदिक परम्परा में स्वाभाविक हो जाता है।

शब्दज्ञान तथा शब्दार्थज्ञान मोक्ष के कारण हैं। व्याकरण, जो सम्यक् प्रकार से शब्दज्ञान तथा शब्दार्थज्ञान कराने में सर्वोत्तम साधन है, वैयाकरणों के मत में मोक्षद्वार है। महाभारत शान्तिपर्व में कहा गया है कि शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति (महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २७०)। जिस प्रकार सभी शारीरिक मलों तथा व्याधियों का निराकरण वैद्यकशास्त्र द्वारा सम्भव है, ठीक उसी तरह वैयाकरणों की सम्मति में 'वाङमल' की अपाकृति व्याकरण द्वारा ही साध्य है। आधुनिक तार्किक भाववादियों के हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में सम्यक् प्रकार, साङ्गोपाङ्ग रूप से शब्द तथा शब्दार्थ पर विचार हुआ था और यह भारतवर्ष का सौभाग्य है कि इस शास्त्र का जो विकास यहाँ हुआ, वह सारे संसार में अप्रतिम है। छान्दोग्य उपनिषद् में व्याकरण को 'वेदानां वेदः' कहा गया है। ब्रह्मविन्दूपनिषद् के अनुसार शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म दोनों ही ज्ञातव्य है। शब्दब्रह्म में निष्णात मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसी शब्दब्रह्म के प्रणव, ओंकार, ॐ, ओम् आदि विविध नाम है। यह सर्वविदित है कि वैदिक मन्त्रों का उच्चारण ओम् से ही प्रारम्भ होता है। गीता में ॐ-तत्-सत्, ये तीन निर्देश ब्रह्म के बतलाए गए हैं (गीता, १७ २३)। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि सभी वेदों में 'प्रणव' तथा आकाश का सारतत्त्व शब्द मैं ही हूँ। (गीता, ७. ८.) वेद्य, पवित्र, ओंकार मैं ही हूँ (गीता ९. १७)। 'ओम्' शब्द का उच्चारण करने के पश्चात् ही ब्रह्मवादियों के यज्ञदान तप आदि धार्मिक व्यापार प्रवृत्त होते है (गीता, १७२४)। अरबी तथा आङ्गल भाषा में प्रयुक्त 'आमिन' (Amin) एवं 'ओमेन्' (Amen) पद ओंकार के समानार्थक शब्द हैं। ईसाई मत में भी बाइबिल की सूक्तियों के साथ 'ओमेन्' पद का उच्चारण श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया जाता है। कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को ओंकार का उपदेश देते समय कहा था कि ओंकार ही वह पद है जिसका सारे वेद वर्णन करते हैं तथा जिसकी प्राप्ति के साधक सारे तप हैं एवं जिसके निमित्त मुमुक्षु लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं। यही अक्षर ब्रह्म है, यही अक्षर पर है, इसी अक्षर का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य जो चाहता है, प्राप्त कर लेता है (कठोपनिषद् १. २. १५-१६ तथा गीता ८. ११,१३)।

भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन में संगीत-वाद्यादि का भी महत्त्व कम नहीं है। न केवल भगवन्नामोच्चारण अपितु कीर्तन वादनादि द्वारा भी मोक्ष-

सिद्धि होती है (वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः तालज्ञश्च प्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति) नादब्रह्म, शब्दब्रह्म ये दोनों एक ही तत्त्व के बोधक हैं। संसार के मूल में नाद, शब्द विद्यमान है। वाइबिल में कहा गया है सृष्टि के आदि में वाक् या (Logos) विद्यमान था और यह परब्रह्म के साथ था (सेंट जॉन)। ओंकार ब्रह्म के नितान्त सन्निकट है (नेदिष्ठं ब्रह्मणो यदोङ्कार इति)। शब्द अथवा नाद से न केवल विचार, शब्द आदि का बोध होता है, अपितु यह राग का भी सूचक है। जैमिनीय ब्राह्मण में स्वर के संबंध में एक रोचक कथा आती है। देवताओं ने मृत्युपाश से विमुक्त होने के लिए स्वरहीन ऋचाओं में प्रवेश किया। मृत्यु उनका पीछा छोड़ नहीं रही थी। तब देवताओं ने स्वरहीन ऋचाओं से निकलकर स्वरों की शरण ली। जब देवता स्वर में प्रविष्ट हो गए तब मृत्यु उन्हें खोजने में असमर्थ रही। मृत्यु ने देवताओं को अपने चंगुल में लाने के लिए स्वरसदृश ध्वनियों को उत्पन्न किया और तब देवताओं ने स्वर से निकलकर 'ओम्' की शरण ली। इस आख्यायिका से यह अभिप्राय निकलता है कि शब्द ही मृत्युपाश से विमुक्ति में हेतु है। शब्द का आधार स्वर और स्वर का आश्रय 'ओम्' है। शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक अर्थों की प्राप्ति के लिए गाये जानेवाले वैदिक सूक्तों का आधार 'ओम्' ही है। स्वर की शक्तियाँ व्योम के समान सर्वव्यापक हैं। (व्यापिनी व्योमरूपाः स्फुरंत्याः स्वरशक्तयः—गौतमीय तन्त्र)। इसीलिए तो सामवेद संगीत का आश्रय बना। योगोपनिषद् में कहा गया है कि सर्वदा नाद के अभ्यास से वासनाओं का क्षय होता है (सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत्—योगोपनिषद्)। आजकल अमरीका जैसे देशों में अनेक रोगों के निदान के लिए संगीत, वाद्य-ध्वनि आदि की व्यवस्था की जाती है।

'स्फोट' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया। स्पष्ट है कि 'स्फोट' या 'शब्द' वैयाकरणों अथवा शाब्दिकों के मत में परतत्त्व है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'स्फोट' नित्य है। परन्तु 'स्फोट' क्या है? इस पद का क्या अर्थ है? 'स्फोट' ब्रह्मशब्द का समानार्थक है। जो स्फुट होता है, अभिव्यक्त होता है, उसे 'स्फोट' कहते हैं। 'ब्रह्म' शब्द भी 'बृह्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है विकसित होना, विस्तृत होना, फैलना। रहस्याम्नाय ब्राह्मण में भी ब्रह्म की यह परिभाषा दी गई है—'बृहति बृंहयतीति तत्परं ब्रह्म।' स्वयं बृहत् होने तथा दूसरों को बृहत् करने में जो समर्थ हो, वह ब्रह्म

है। बृहत्त्वात् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते (विष्णु पुराण)। 'स्फोट' शब्द का भी ऐसा ही अर्थ है। 'स्फुट्यते असौ इति स्फोट:', 'स्फुट्यते अभिव्यज्यते वर्णै: 'अस्मिन् स्फुटत्यर्थो यस्मात् स्फुटत्यर्थ: अनेन'— ये 'स्फोट' के अर्थ बतलाए गए है। जो स्फुट होता है, अभिव्यक्त होता है, वह 'स्फोट' है। जिसके आश्रय से शब्द स्फुट होते हैं, स्पष्ट होते हैं, अभिव्यक्त होते हैं, उसे 'स्फोट' कहा जाता है। जिससे समस्त अर्थजात, संसार अभिव्यक्त होता है वह 'स्फोट' अथवा कारणरूप शब्दब्रह्म है। 'स्फोट' का अर्थ समझने के लिए यहाँ शब्दों से वर्णों की भिन्नता का ज्ञान अपेक्षित है। व्याकरणशास्त्र ज्ञान में वर्ण को नहीं, बल्कि वाक्य को हेतु मानता है। ज्ञान की इकाई वाक्य या वाक् है और वाक्य शब्दों का समाहार है। शब्दों और वाक्यों के ही अर्थ होते हैं, वर्णों के नहीं; और ये शब्द एवं वाक्य ही नित्य हैं। शब्द वर्णों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, परन्तु वे वर्णों से भिन्न हैं। 'वर्णाभिव्यंग्यत्वे सति अर्थप्रतीतिजनकत्वम् स्फोटत्वम्'। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। (सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयो:। शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्ध: स्यात् कृत: कथम्॥'— व्याडि, संग्रह) वर्ण अर्थबोध में कारण नहीं है। वर्ण, न तो संघातरूप से और न पृथक्-पृथक् उच्चार्यमाण होकर ही अर्थबोध करते हैं। यद्यपि वर्णों से ही पद या शब्द बनते हैं तथापि शब्दों के अर्थ होते हैं, वर्णों के नहीं। उच्चरित होते ही प्रत्येक वर्ण नष्ट हो जाता है। अत: वर्ण से पद या शब्द के अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। क्षणिक वर्णों से पद नहीं बन सकते, क्योंकि उच्चरित होते ही ये नष्ट हो जाते हैं। भले ही बाह्य दृष्टि से शब्दों या पदों को हम वर्णों का संघातमात्र मान लें, परन्तु व्याकरण-दर्शन में सभी शब्द नित्य हैं और उनके अर्थ भी निश्चित हैं। परम्परा या लोकसम्मति (Convention) द्वारा शब्दों के अर्थ प्रतिष्ठित नहीं होते। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, क्योंकि बीजरूप से शब्दों में सभी अर्थों को व्यक्त करने की शक्ति है। परम्परा या लोकसम्मति द्वारा तो हम अर्थों को मर्यादित मात्र करते हैं।

'स्फोट' के अस्तित्व में सन्देह का रंचमात्र भी अवकाश नहीं, क्योंकि यह प्रत्यक्षज्ञान का विषय है। जब हम 'गौ' पद का उच्चारण करते हैं तब हमें 'गौ' पद में वर्त्तमान वर्णों से अतिरिक्त शब्द का ज्ञान होता है। कैयट का कथन है कि यदि वर्ण ही अर्थ के व्यञ्जक होते तो, प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय वर्ण से ही अर्थबोध हो जाता। अत: 'स्फोट' शब्द वर्णों से पूर्व ही सत्तावान् है। परन्तु यह आपत्ति की जा सकती है कि जब कभी हम घटपटादि

किसी शब्द विशेष का उच्चारण करते हैं, तब वर्णों का एक ही साथ उच्चारण नहीं होता, किन्तु शब्द का अर्थ इसके इकाई रूप ज्ञान होने से ही सम्भव है। किसी भी क्षण में किसी शब्द के अवयवभूत वर्ण एक ही साथ उच्चरित नहीं होते और न एक साथ उनकी अवगति ही होती है। तब समष्टिरूप से ही किसी भी शब्द का ज्ञान कैसे होता है ? किसी भी शब्द के अवयवीभूत विभिन्न वर्णों एवं खण्डों का एकशब्द के रूप में कैसे ज्ञान होता है ? स्यात् इसका यह उत्तर हो कि जब शब्दखण्ड तथा अवयवीभूत वर्ण एक साथ मिलकर ही एक निश्चित अर्थ का बोध करते हैं तब शब्दखण्डों या वर्णों को एक शब्द के रूप में मान लिया जाता है। परन्तु इस उत्तर से भी उपर्युक्त आक्षेप का परिहार नहीं हो जाता। शब्दखण्डों या अवयवीभूत वर्ण तो पहले श्रवणगोचर होते हैं और तत्पश्चात् ही अर्थबोध होता है। आद्यन्तयुक्त शब्द की प्रतीति होने के बाद ही अर्थबोध होता है। यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि शब्दखण्ड एक ही साथ एक अर्थ का बोध कराते हैं, क्योंकि प्रश्न तो पूर्ववत् ही रह जाता है। प्रश्न तो यह रह ही जाता है कि विभिन्न शब्दखण्डों या वर्णों के सहभाव की प्रतीति हमें कैसे और किस प्रकार होती है ? क्योंकि स्पष्ट ही ये विभिन्न अवयवीभूत खण्ड एक ही साथ प्रतीति के विषय कथमपि नहीं हो सकते। यदि इस शंका का समाधान इस उत्तर द्वारा किया जाय कि यद्यपि विभिन्न शब्दखण्डों के सहभाव की प्रतीति हमें नहीं होती, तथापि इसका स्मरण हो सकता है। सभी शब्दखण्डों को एक-एक कर जब हम सुन लेते हैं तब बाद में श्रुतिगोचर सम्पूर्ण शब्द का हमें स्मरण हो सकता है। फिर भी शंका का समाधान नहीं हो पाता। यहाँ हम दो विकल्पों की द्विविधा में फँस जाते हैं। प्रथम आपत्ति यह है कि आनुपूर्वीक्रम से निरपेक्ष होकर ही क्या ये शब्दखण्ड स्मृति के विषय होते हैं अथवा ये आनुपूर्वीक्रम-सापेक्ष होकर ही, अथवा निश्चित क्रम या आनुपूर्वीक्रमसहित ही ये स्मृति के विषय होते हैं। प्रथम विकल्प में घट, टघ, पट, टप प्रभृति शब्दो की भिन्नता के औचित्य का कोई अवकाश नहीं रहता। जो घट सो टघ, जो पट सो टप, क्योंकि इन पदों के वर्ण एक ही हैं। पूर्वपश्चात् का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे विकल्प में यदि हम यह कहें कि शब्दों के शब्दखण्डों का आनुपूर्वीक्रमभाव से ही स्मरण होता है, तब वे कदापि एक ही साथ स्मरण के विषय नहीं बन सकते और तब इकाई के रूप में शब्द की प्रतीति सम्भव नहीं। नैयायिक उच्चरित शब्द-खण्डों के संस्कार के आधार पर इस शंका का समाधान करते हैं। सभी शब्दों

के सम्मिलित संस्कार ही अन्तिम उच्चरित शब्दखण्ड के साथ शब्दबोध कराते हैं और तब शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है। परन्तु यह भी प्रस्तुत आक्षेप का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रश्न अपने पूर्वरूप में विद्यमान रह ही जाता है। एक ही साथ, एक ही समय शब्द का ज्ञान कैसे होता है—इस प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता। व्याकरणशास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द का अव्यक्त, निरवयव प्रतीक रहता है जो स्वय इसके अर्थ का बोध कराता है। यही प्रतीक 'स्फोट' नाम से प्रसिद्ध है। विभिन्न शब्द खण्ड तो इस प्रतीक के अभिव्यञ्जक मात्र हैं। सभी शब्दों के 'स्फोट' भिन्न-भिन्न हैं और उनके स्वरूप भी निश्चित हैं। प्लेटो के मत से इस मत का साम्य प्रत्यक्ष ही है।

स्फोटभेद—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी

अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया के समान वैयाकरण भी परमात्मा और जीवात्मा के त्रिविध शरीर, स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर की कल्पना करते हैं। आत्मा को वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय बतलाया गया है। आत्मा का वाङ्मय स्वरूप कारणशरीर, मनोमय सूक्ष्मशरीर तथा प्राणमय स्थूलशरीर का रक्षक है। बुद्धि, मन और प्राण इनसे संबद्ध हैं। प्राणमय रूप परिवर्तनशील और नाशवान् है, मनोमय शरीर प्रलयपर्यन्त रहता है, तत्पश्चात् नष्ट हो जाता है और वाङ्मय स्वरूप महाप्रलय पर्यन्त विद्यमान रहता है। परन्तु परमात्मा का वाङ्मय स्वरूप अविनाशी है। प्रलय तक मनोमय स्वरूप और महाप्रलय तक प्राणमय स्वरूप विद्यमान रहते हैं। जीवात्मा के वाङ्मय स्वरूप को 'स्फोट' कहते हैं जो लौकिक शब्दों के रूप में अभिव्यक्त होता है। वाङ्मय ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड में विद्यमान 'स्फोट' है जो वैदिक शब्दों के रूप में अभिव्यक्त होकर वेद हो जाता है और इसीलिए वेदों के शब्दों में तथा उनके पाठ में परिवर्तन करने का मनुष्य को अधिकार नहीं है। ब्रह्माण्ड में विद्यमान यही 'स्फोट' मूलाधारादि स्थानभेद से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहलाता है। उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न रूपों में यह व्यक्त होता है। शास्त्रकारों के मत में शरीर में मूलाधार में शब्दब्रह्म विद्यमान रहता है जो नाभिदेश में अभिव्यक्त होता है। यही परा है। मन का विषय होने से यही पश्यन्ती हो जाता है। हृदय में वायु द्वारा अभिव्यक्त होकर मध्यमा और मुख, कण्ठ आदि स्थानों द्वारा उच्चरित होने पर वैखरी कहलाता है। इस प्रकार वाक्य स्फोट के ये चार रूप हैं। (मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु शब्दःपराख्यः, पश्चात्पश्यत्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः। वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य

जन्तोः सुषुम्णा, बद्धस्तस्माद् मुखर पवनप्रेरितो वर्णसंज्ञः । परवाङ्मूल चक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता । हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥)

इनमें निर्विकल्पक-सविकल्पक भेद से, परा एवं पश्यन्ती की प्रत्यक्ष प्रतीति केवल योगियों को होती है। मनुष्यों के साधारण ज्ञान के ये विषय नहीं। मध्यमा और वैखरी ही साधारण ज्ञान के विषय हैं। इनमें प्रथम तीन स्थूल रूप में अभिव्यक्त नहीं होते। ये आधार, नाभि और हृदय में विद्यमान रहते हैं। केवल वैखरी वाणी ही श्रवणगोचर होती है जिसे मनुष्य बोलते हैं। (तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति, ऋ० १.१६४.४५)

अन्य भारतीय षड्दर्शनों में स्फोटविमर्श

वर्णो से अतिरिक्त एवं भिन्न, नित्य निरवयव 'स्फोट' के संबंध में, जिसकी अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा होती है, अन्य भारतीय षड्दर्शनों में भी बहुत अधिक विचार हुआ है। नैयायिक, 'स्फोट' के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। मीमांसकों में सूत्रकार जैमिनि शब्दनित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं, परन्तु शबर स्वामी, कुमारिल प्रभृति मीमांसक 'स्फोट' का खंडन करते हैं। सांख्यमत में 'स्फोट' की सत्ता प्रमाणित नहीं हो सकती। योग तो 'स्फोट' को स्वीकार करता ही है, क्योंकि पतञ्जलि तो महाभाष्य तथा योगसूत्र दोनों ही के कर्त्ता माने जाते हैं। विद्वानों के मत में योग और व्याकरण के कर्त्ता एक ही व्यक्ति पतञ्जलि थे। (द्रष्टव्य : एस्० एन्० दास गुप्त, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, प्रथम भाग, पृ० २३१-२३२)। पतञ्जलि ने ही सर्वप्रथम, 'स्फोट' शब्द का प्रयोग अपने महाभाष्य में किया यद्यपि 'स्फोट' मण्डन के निमित्त वेदों के मन्त्र भी उद्धृत किए जाते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार शब्दों से पृथक् और स्वतन्त्र 'स्फोट' की सत्ता को मानना अनावश्यक है। यदि पद ही स्वतः अर्थप्रकाश के लिए पर्याप्त है तब व्यर्थ 'स्फोट' की कल्पना क्यों की जाए? स्फोट तो कदापि प्रत्यक्षगोचर नहीं होता, फिर इसके अस्तित्व को क्यों स्वीकार कर लिया जाए? वर्णों से पृथक् कोई शब्द नहीं और जब शब्द ही 'स्फोट' है तब शब्दों से पृथक् 'स्फोट' को मानने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वर्णों अथवा अक्षरों से भिन्न 'स्फोट' के अस्तित्व को ठीक उसी तरह नहीं प्रमाणित किया जा सकता जिस तरह वृक्षों से अतिरिक्त वन की सत्ता को हम नहीं स्वीकार कर सकते। नैयायिक शब्द के नित्यत्व को स्वीकार नहीं करते। शब्द प्रत्यक्षज्ञान का विषय है और उत्पन्न तथा नष्ट होता है। यदि

शब्द नित्य होता तो निश्चय ही उच्चारण होने के पूर्व ही, हमें सदा इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता, क्योंकि आकाश और श्रोत्रेन्द्रिय के बीच कोई उपाधि नहीं है जिससे शब्द के ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा हो।

शब्दनित्यत्वपक्ष में जैमिनि के निम्नलिखित प्रमाण उल्लेखनीय हैं:—

(१) शब्दों का अस्तित्व उनके उच्चारण होने के पूर्व सिद्ध है। शब्द उच्चारण से उत्पन्न नहीं होता। उच्चारण केवल प्रयत्न का कार्य है। शब्द उच्चारण के द्वारा केवल अभिव्यक्त होता है। यदि पहले ही शब्द विद्यमान न होता तो इसका उच्चारण सम्भव नहीं होता।

(२) हम यह नहीं कह सकते कि उच्चारण के पश्चात् शब्द नष्ट हो जाता है और इसलिए यह अनित्य है। जैमिनि के मत में केवल ध्वनि नष्ट होती है, शब्द तो रहता ही है।

(३) शब्द की सृष्टि अथवा उत्पत्ति में उच्चारण हेतु नहीं है। उच्चारण से शब्द केवल श्रवणगोचर होता है।

(४) यह आपत्ति युक्तिसंगत नहीं है कि चूंकि शब्द एक ही समय कई व्यक्तियों को श्रवणगोचर होता है, इसलिए ध्वनियों के अनेक होने से शब्द अनित्य सिद्ध हो जाता है। जैमिनि कहते हैं कि जिस तरह सूर्य एक है, शब्द भी एक है। यद्यपि सूर्य को अनेक लोग देखते हैं, सूर्य अनेक नहीं हो जाता। अतः शब्द नित्य है।

(५) अक्षरों में विकार होने से शब्दों में विकार नहीं होता और इससे शब्द की अनित्यता प्रमाणित नहीं होती। मूल शब्द तो सत्तावान् एवं नित्य है ही।

(६) शब्दों के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारण करने के कारण उनके परिमाण में वृद्धि होने से, शब्द अनित्य नहीं हो सकते। शब्द में कदापि वृद्धि नहीं होती। ध्वनि में ही वृद्धि होती है जो शब्द का अभिव्यञ्जक है। अतः शब्द नित्य है। परन्तु अन्य मीमांसक केवल वर्ण को नित्य मानते हैं।

अद्वैतवादियों में शंकराचार्य 'स्फोटवाद' का खंडन करते हैं। परन्तु ब्रह्मसिद्धि में मण्डनमिश्र ने 'स्फोटवाद' का मण्डन किया है। शंकराचार्य 'स्फोट' को अनावश्यक मानते हैं। शब्द के अवयवीभूत वर्ण ही निश्चित अर्थ के साथ

संवद्ध हो जाते हैं और वर्णों की संहति का उस निश्चित अर्थ के साथ संबध नित्य होता है। वर्ण ही निश्चित अर्थ के साथ हमारे ज्ञान के विषय होते हैं। पृथक्-पृथक् वर्णों की प्रतीति के फलस्वरूप बुद्धि वर्णों की संहति को शब्द के रूप में उसके निश्चित अर्थ के साथ ग्रहण कर लेती है। 'स्फोट' का हमें कदापि ज्ञान नहीं होता। तथापि शंकराचार्य ने स्फोटवाद के प्रत्याख्यान के प्रसंग में तो मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार कर ही लिया है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का निर्माण करना चाहता है तब पहले उसके वाचक शब्द का स्मरण करता है। वाचक शब्द का स्मरण करने के पश्चात् ही वह उस वस्तु के निर्माण में प्रवृत्त होता है। यह तो प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार शंकराचार्य की दृष्टि में सृष्टि-कर्त्ता प्रजापति के मन में सृष्टि से पूर्व पहले वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए और तत्पश्चात् शब्दों में अनुगत अर्थों, वस्तुओं की रचना प्रजापति ने की। इसी प्रकार 'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २।२।४।२)—उसने 'भू' ऐसा उच्चारण कर पृथिवी की सृष्टि की। इस प्रकार श्रुति भी मन में ही प्रादुर्भूत हुए 'भू' आदि शब्दों से ही 'भू' आदि लोकों की सृष्टि दिखलाती है। अन्त में स्पष्ट रूप से शंकराचार्य ने कहा है कि नित्य शब्दों से देवता आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है। स्फोटवादियों से इतना भेद अवश्य ही है कि वे वर्ण को ही नित्य मानते हैं तथा उनकी अनुमति में वर्ण एवं शब्द एक ही हैं। (द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १।३।२८—चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एवमनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति··· वर्णा एवः तु शब्द इति भगवानुपवर्षः·······नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादि-व्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम्।)

'स्फोटवाद' का दार्शनिक प्रारूप

भर्तृहरि ने स्वरचित वाक्यपदीय में जिस 'स्फोटवाद' का प्रतिपादन किया है, वह अद्वैतवाद ही है। तीन प्रकार के अद्वैतवाद प्रचलित हैं—बौद्धों का विज्ञानाद्वैतवाद, शंकराचार्य का सत्ताद्वैतवाद और भर्तृहरि का शब्दाद्वैत-वाद। हम देख चुके हैं कि भर्तृहरि की दृष्टि में शब्द ही अद्वयतत्त्व है। शब्द

के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन ही उनके 'वाक्यपदाय' का लक्ष्य है। कतिपय विद्वान् भर्तृहरि को बौद्धमतानुयायी मानते हैं। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि भर्तृहरि कई बार बौद्ध भिक्षु हुए (इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४६५, जॉर्ज, एलन ऐण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन, १९४८)। यह तो निर्विवाद है कि भर्तृहरि के शब्दतत्त्व-विषयक अधिकांश विचार बौद्धमत से मिलते-जुलते हैं। परन्तु ये शब्द ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म और शब्दतत्त्व एक ही हैं। वेद को ब्रह्मप्राप्ति का उपाय मानते हैं। जब भर्तृहरि ने ब्रह्म की प्राप्ति में व्याकरण को साधन माना है तब उन्हें कैसे बौद्ध माना जा सकता है? वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक में ही उन्होंने अपना दार्शनिक मत अद्वैतवाद के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। शब्दों के अभिव्यक्त भौतिकेतर स्वरूप को तथा ब्रह्म से साम्य को स्वीकार तथा विवर्तवाद के स्थापन करने से 'स्फोटवाद' अद्वैतवाद ही हो जाता है। सकल प्रपञ्च के लिए विवर्तहेतुभूत शब्दमय अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन करने से शब्दाद्वैतवाद को बौद्धमत का संस्करण नहीं माना जा सकता।

★

मीमांसा का अनीश्वरवाद

प्रो० पद्माकर सिंह

मीमांसा दर्शन के 'निरीश्वरवाद' की व्याख्या प्रस्तुत करने के पहले यह आवश्यक है कि भारतीय दर्शन में वर्णित 'ईश्वरवाद' की संक्षिप्त विवेचना की जाए, क्योंकि मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने 'निरीश्वरवाद' में ईश्वरवादियों द्वारा दिए गये ईश्वर के अस्तित्व-संबंधी प्रमाणों की आलोचना की है।

भारतीय-दर्शनों में मुख्यतः योग-दर्शन, न्याय-वैशेपिक-दर्शन एवं वेदान्त-दर्शन ईश्वरवादी हैं। यहाँ प्रत्येक दर्शन द्वारा स्थापित ईश्वरवाद की व्याख्या करना संभव नहीं है। इसलिए न्याय-वैशेषिक के ईश्वरवाद की ही संक्षिप्त व्याख्या की जा रही है। प्रारंभिक न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी है या नहीं, यह विवाद का विपय है। परन्तु यह सत्य है कि गौतम के 'न्याय-सूत्र' में[1] ईश्वर की स्थापना के लिये प्रमाण नहीं दिये गये हैं। केवल चतुर्थ अध्याय के तीन सूत्रों में ईश्वर की चर्चा आयी है;[2] न्यायदर्शन के भाष्यकरों में वात्स्यायन, उद्योतकर, प्रशस्तपाद, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य एवं जयन्तभट्ट आदि प्रमुख हैं। उन्होंने ईश्वरवाद का प्रबल समर्थक किया है। महानैयायिक उदयनाचार्य ने 'कल्याणरक्षित' कृत 'ईश्वरभंगकारिका' के विरोध में 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ की रचना की और पूर्वपक्षियों की विप्रतिपत्तियों का उत्तर देते हुए ईश्वर-सिद्धि के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत की है।[3]

न्याय-दर्शन में ईश्वर को विश्व का मूलकारण, सृष्टिकर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, नित्य, सर्वज्ञ, करुणामय एवं कर्मफलदाता के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से नैयायिकों का ईश्वर सगुणरूप है। ईश्वर विश्व का कारण एवं

---

१. गार्वे —फिलासफी ऑफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ—२३. तथा देखें—म्योर ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स, खण्ड ३ : पृ०—१३३

२. गौतम—'न्याय-सूत्र' ४-१-१९-२१.

३. उदयन—न्याय-कुसुमाञ्जलि—हिन्दी भाष्य—आचार्य विश्वेश्वर-चौखम्बा विद्याभवन-वाराणसी—१. १९६२ पृष्ठ—२१

सुख तथा दुःख का निर्णायक है ।[४] ईश्वर ने संसार की सृष्टि किसी स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण प्राणियों के कल्याण के लिए की है ।

ईश्वर जीवों के सभी कर्मों का फलदाता भी है । गौतम का विचार है—

'ईश्वरः कारणं पुरुष कर्मफल्यादर्शनात् ।'[५]

अर्थात्, 'बहुधा जीवों के कर्मों का नैष्फल्य देखे जाने से ईश्वर ही कर्मफल का दाता सिद्ध होता है ।'[६] जीवात्मा अपने कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता स्वयं है, परन्तु कभी-कभी कर्मो की विफलता देखी जाती है । इस अवस्था में जीवों के कर्म करण नहीं होते, ईश्वर ही अपनी इच्छानुसार जीवों के सुख-दुःख आदि का विधान करते हैं । बौद्धपाली ग्रन्थ 'महाबोधिजातक'[७] तथा 'अश्वघोष' कृत 'बुद्धचरित्र'[८] में भी उक्त मत का उल्लेख मिलता है । अतः नैयायिकों के अनुसार, ईश्वर सृष्टि का उत्पादक नहीं, संचालक है । वह कर्म का हेतुकर्त्ता या प्रयोजक-कर्त्ता है । वही जीवों का अध्यक्ष तथा सब अदृष्टों के अधिष्ठाता है । 'ब्राह्मण' एवं 'उपनिषद'[९] में भी नैयायिकों के इस मत का समर्थन है । इतना ही नहीं उद्योतकर' ने ईश्वर को विश्व का 'निमित्तकारण' माना है । वाचस्पतिमिश्र ने ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्त्ता, सर्वज्ञ एवं नित्य मानकर वर्णन किया है । महानैयायिक उदयनाचार्य ने 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए आठ प्रमाण दिये हैं[१०] :—

'कार्यायोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्योविश्वविदव्ययः ॥'

---

४ देखें—वही—सूत्र—१:४.

'सापेक्षत्वाद् अनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥' १:४.

५. गौतम—न्याय-सूत्र—४-१-१९.

६. गौतम—न्याय-सूत्र—भाष्यकार वात्स्यायन, पृ०—२८१. भारतीय-विद्याप्रकाशनम्-वाराणसी—१ (१९६६).

७ महाबोधि जातक—पञ्चम खण्ड—पृ०—२३८.

८. बुद्धचरित—अश्वघोष —९।५३.

९. कौषीतकी ब्राह्मण—३।८, (१०) बृ० उप० ३।२।१३ एवं ४।४।२४, श्वेता० उप० ६।४.

१०. न्याय-कुसुमाञ्जलि—उदयन—५।१।१.

मीमांसा का अनीश्वरवाद

प्रो० पद्माकर सिंह

मीमांसा दर्शन के 'निरीश्वरवाद' की व्याख्या प्रस्तुत करने के पहले यह आवश्यक है कि भारतीय दर्शन में वर्णित 'ईश्वरवाद' की संक्षिप्त विवेचना की जाए, क्योंकि मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने 'निरीश्वरवाद' में ईश्वरवादियों द्वारा दिए गये ईश्वर के अस्तित्व-संबंधी प्रमाणों की आलोचना की है।

भारतीय-दर्शनों में मुख्यत: योग-दर्शन, न्याय-वैशेषिक-दर्शन एवं वेदान्त-दर्शन ईश्वरवादी हैं। यहाँ प्रत्येक दर्शन द्वारा स्थापित ईश्वरवाद की व्याख्या करना संभव नहीं है। इसलिए न्याय-वैशेपिक के ईश्वरवाद की ही संक्षिप्त व्याख्या की जा रही है। प्रारंभिक न्याय-वैशेपिक दर्शन ईश्वरवादी है या नहीं, यह विवाद का विपय है। परन्तु यह सत्य है कि गौतम के 'न्याय-सूत्र' में[1] ईश्वर की स्थापना के लिये प्रमाण नहीं दिये गये हैं। केवल चतुर्थ अध्याय के तीन सूत्रों में ईश्वर की चर्चा आयी है;[2] न्यायदर्शन के भाष्यकरों में वात्स्यायन, उद्योतकर, प्रशस्तपाद, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य एवं जयन्तभट्ट आदि प्रमुख हैं। उन्होंने ईश्वरवाद का प्रबल समर्थक किया है। महानैयायिक उदयनाचार्य ने 'कल्याणरक्षित' कृत 'ईश्वरभंगकारिका' के विरोध में 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ की रचना की और पूर्वपक्षियों की विप्रतिपत्तियों का उत्तर देते हुए ईश्वर-सिद्धि के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत की है।[3]

न्याय-दर्शन में ईश्वर को विश्व का मूलकारण, सृष्टिकर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, नित्य, सर्वज्ञ, करुणामय एवं कर्मफलदाता के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से नैयायिकों का ईश्वर सगुणरूप है। ईश्वर विश्व का कारण एवं

---

१. गार्वे —फिलासफी ऑफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ—२३. तथा देखें—म्योर ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स, खण्ड ३ : पृ०—१३३

२. गौतम—'न्याय-सूत्र' ४·१·१९·२१·

३. उदयन—न्याय-कुसुमाञ्जलि – हिन्दी भाष्य— आचार्य विश्वेश्वर-चौखम्बा विद्याभवन-वाराणसी—१· १९६२ पृष्ठ—७१

सुख तथा दुःख का निर्णायक है।[४] ईश्वर ने संसार की सृष्टि किसी स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण प्राणियों के कल्याण के लिए की है।

ईश्वर जीवों के सभी कर्मों का फलदाता भी है। गौतम का विचार है—

'ईश्वरः कारणं पुरुष कर्मफल्यादर्शनात्।'[५]

अर्थात्, 'बहुधा जीवों के कर्मों का नैष्फल्य देखे जाने से ईश्वर ही कर्मफल का दाता सिद्ध होता है।'[६] जीवात्मा अपने कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता स्वयं है, परन्तु कभी-कभी कर्मों की विफलता देखी जाती है। इस अवस्था में जीवों के कर्म करण नहीं होते, ईश्वर ही अपनी इच्छानुसार जीवों के सुख-दुःख आदि का विधान करते हैं। बौद्धपाली-ग्रन्थ 'महाबोधिजातक'[७] तथा 'अश्वघोष' कृत 'बुद्धचरित्र'[८] में भी उक्त मत का उल्लेख मिलता है। अतः नैयायिकों के अनुसार, ईश्वर सृष्टि का उत्पादक नहीं, संचालक है। वह कर्म का हेतुकर्त्ता या प्रयोजक-कर्त्ता है। वही जीवों का अध्यक्ष तथा सब अदृष्टों के अधिष्ठाता है। 'ब्राह्मण' एवं 'उपनिषद'[९] में भी नैयायिकों के इस मत का समर्थन है। इतना ही नहीं उद्योतकर' ने ईश्वर को विश्व का 'निमित्तकारण' माना है। वाचस्पतिमिश्र ने ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्त्ता, सर्वज्ञ एवं नित्य मानकर वर्णन किया है। महानैयायिक उदयनाचार्य ने 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए आठ प्रमाण दिये हैं[१०] :—

'कार्यायोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्योविश्वविदव्ययः॥'

---

४ देखें—वही—सूत्र—१:४.
'सापेक्षत्वाद् अनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमाद् मुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः॥' १:४.

५. गौतम—न्याय-सूत्र—४-१-१९.

६. गौतम—न्याय-सूत्र—भाष्यकार वात्स्यायन, पृ०—२८१.
भारतीय-विद्याप्रकाशनम्-वाराणसी—१ (१९६६).

७ महाबोधि जातक—पञ्चम खण्ड—पृ०—२३८.

८. बुद्धचरित—अश्वघोष —६।५३.

९. कौषीतकी ब्राह्मण—३।८, (१०) बृ० उप० ३।२।१३ एवं ४।४।२४, श्वेता० उप० ६।४.

१०. न्याय-कुसुमाञ्जलि—उदयन—५।१।१.

अर्थात् ईश्वर सिद्धि में ये आठ हेतु हैं—(१) 'कार्य' (२) 'आयोजन' (३) 'धृति' (धारण आदि) (४) 'पद' अर्थात् 'व्यवहार' (५) 'प्रत्यय' अर्थात् प्रमाण्य' (६) 'श्रुति' (७) 'वाक्य' और (८) 'संख्याविशेष'। 'इन्हीं आठों हेतुओं से नित्य, सर्वज्ञ, ईश्वर साध्य है।'

उपर्युक्त आठो युक्तियों के सारांश इस प्रकार हैं।

१. कार्यात्—ईश्वर विश्व का कारण है। प्रत्येक कार्य कारण पर निर्भर करता है। इस विश्वरूपी कार्य का हमारे सुख-दुःख का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। जिस प्रकार सांसारिक वस्तुओं, घट, पट आदि का कोई-न-कोई कारण होता है उसी प्रकार पृथ्वी' आदि कार्य का कारण भी होना चाहिए। वही कारण ईश्वर है। कहा गया है—'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' अर्थात् पृथ्वी आदि घट के समान, कार्य होने से ईश्वर इसका कर्त्ता है। वह विश्व का चेतन कारण है। वह प्रत्यक्षज्ञान चिकीर्षा एवं प्रयत्न से युक्त है। इस प्रकार ईश्वर, सृष्टिकर्त्ता है।

२. आयोजनात्—आयोजन से तात्पर्य उस कर्म से है जो सृष्टि रचना के आरम्भ में दो अणुओं को मिलाकर युग्ममिश्र बनाता है। इस कर्म से एक बुद्धिसम्पन्न कर्त्ता का अस्तित्व उपलक्षित होता है। अतः वह चेतन, बुद्धि-सम्पन्न कर्त्ता ही ईश्वर है। उद्योतकर एवं प्रशस्तपाद भी इसको स्वीकार करते हुए कहते हैं कि सृष्टि ईश्वर की इच्छा पर, उसके आयोजन कर्म पर आधारित है।

३. धृत्यादेः—इसका तात्पर्य है कि यह अद्भुत विश्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है। अर्थात्, ब्रह्माण्ड आदि किसी के द्वारा धारण किए जाने से अवस्थित तथा किसी चेतन-कर्त्ता के चेतन-व्यवहार से अधिष्ठित हैं। यह चेतनामय-कर्त्ता ईश्वर है। जैसे, पक्षी घोंसला बनाने के लिए जिस तिनके को ले जाता है, वह गिरता नहीं, क्योंकि उसे चेतन पक्षी का प्रयत्न धारण किए हुए रहता है।

फिर कारिका में 'धृत्यादेः' पद आया है। यहाँ 'आदि' का तात्पर्य 'नाश' है। वह इस विषय का द्योतक है कि इस जगत् का संहारकर्त्ता भी वही है। अतः ईश्वर जगत् का निर्माणकर्त्ता, संहारकर्त्ता तथा पुनर्निर्माणकर्त्ता भी है।

४. पदात्—'पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदम्।' इसका अभिप्राय है कि सृष्टि के आदि काल में 'घट' 'पट' आदि नाना प्रकार के पदार्थों की निर्माण कला की शिक्षा देनेवाला एवं उस व्यवहार का प्रवर्त्तक ईश्वर ही है, जैसे आधुनिक लिपि की शिक्षा देनेवाला कोई चेतन मनुष्य ही होता है।

५. प्रत्ययतः :—वेदों की प्रमाणिकता इसलिए है कि जिसने उसको प्रमाणिकता दी है वह स्वयं प्रमाणिक है। अर्थात् वेद के ज्ञान की प्रमाणिकता उसके वक्तारूप कारण गुण से है। वेद का वक्तारूप कारण सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर है। अतः ईश्वर वेद के द्वारा प्रमाणित सत्य है।

६. श्रुते :—इसका अर्थ है—'श्रुतेः वेदात् वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवत्।[११] अर्थात् आयुर्वेद के समान वेद होने से वेद पौरुषेय है। इसका रचयिता कोई सर्वज्ञ ही होगा और वही ईश्वर है।[१२]

७. वाक्यत्वात्—इससे दो अनुमान बनते हैं।

(क) वेद पौरुषेय है– महाभारत आदि के वाक्यों के समान।[१३]

(ख) वेद-वाक्य पौरुषेय है, वाक्य होने से, हमारे वाक्यों के समान। अतः हमारे वाक्यों की तरह वेद-वाक्यों का भी कोई निर्माता[१४] पुरुष होगा। वही पुरुष सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर है।

८. संख्याविशेषात्—इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के आदिकाल में जो सबसे पहले दो परमाणुओं के संयोग से 'द्वयणुक' की उत्पत्ति होती है, उसका अणु परिमाण 'परिमाण योनि' (वैशेषिक द्वारा वर्णित) या प्रत्यय 'योनि' नहीं, बल्कि वह 'संख्यायोनि' परिणाम है तथा उसकी उत्पत्ति द्वयणुक के कारणभूत दोनों परमाणुओं में रहनेवाली 'द्वित्वसंख्या' से होती है। परन्तु यह 'द्वित्वसंख्या' अनित्य है, इसलिए इसकी उत्पत्ति 'अपेक्षाबुद्धि' से होनी चाहिए। यह 'अपेक्षाबुद्धि' किसी चेतन में ही रह सकती है। लेकिन सृष्टि के पूर्व ईश्वर को छोड़कर कोई दूसरा चेतन जीवधारी नहीं था जो परमाणुओं में 'द्वित्वसंख्या' उत्पन्न कर सके। अतः वह 'अपेक्षाबुद्धि' ईश्वर की ही है। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि इस हेतु से भी होती है।

इस तरह नैयायिकों के अनुसार ईश्वर सृष्टिकर्त्ता, कर्मफलदाता, जगन्नियन्ता, सर्वज्ञ एवं नित्य है।

---

११. न्याय-कुसुमांजलि—पृ०—१७१

१२. भारतीय-दर्शन-भाग—२-१६७, तथा देखें-न्याय-कुसुमांजलि—हिन्दी भाष्य हिन्दी-संस्करण आचार्य- विश्वेश्वर—पृष्ठ—६१ सूत्र—२-१।
तथा देखें—'दि थेईज्म ऑफ न्याय-वैशेषिक'—सी० कामिल बुलके पृ०—४४

१३. न्याय-कुसुमांजलि-उदयन-हिन्दी भाष्य, आचार्य-विश्वेश्वर चौखम्बा विद्या भवन-वाराणसी-१ पृ०—१७२।

१४. देखें—वही—पृ०—१७२।
अर्थात्—'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यात्वात् अस्मदादि वाक्यावत्'।

मीमांसक कुमारिलभट्ट एवं अन्य निरीश्वरवादी विचारकों ने नैयायिकों के ईश्वरवाद की कड़ी आलोचना की है, और ईश्वर के अस्तित्व की युक्तियों का खंडन करते हुए निरीश्वरवाद की स्थापना की है। यहाँ केवल कुमारिलभट्ट के द्वारा की गई ईश्वर की आलोचनाओं का ही वर्णन किया जाता है। कुमारिल ने अपने 'श्लोक वार्तिक' में (श्लोक ४३ से ११३ तक) ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया है। इस ग्रन्थ में इन्होंने तीन प्रकार के ईश्वरवादी मतों का अलग-अलग खण्डन किया है।

(१) श्लोक ४३ से ६६ तक में बादरायण के ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित ईश्वरवाद का खण्डन है।

(२) श्लोक ६७ से ८२ तक न्याय-वैशेषिक द्वारा स्थापित ईश्वरवाद का खण्डन है।[१५].

(३) श्लोक ८३ से ८६ तक अद्वैत वेदान्त द्वारा निरूपित ईश्वर का खण्डन है।

बाद के अन्य श्लोकों में वैदिक ईश्वर के विषय में उठाए गए प्रश्नों का उत्तर एवं मीमांसा द्वारा 'अर्थवाद' की व्याख्या की गई है। यहाँ केवल नैयायिकों के ईश्वरवाद का ही खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है। जैन-दार्शनिको ने, जिनमें गुणरत्न का नाम प्रमुख है और बौद्ध-दार्शनिक शान्तरक्षित एवं कमलशील आदि ने भी नैयायिक ईश्वरवाद का खण्डन किया है। इसका कारण यह है कि भारतीय-दर्शन में 'ईश्वरवाद' की व्याख्या नैयायिक दार्शनिकों ने जितने विस्तृत ढंग से की है. उस तरह और किसी दर्शन ने नहीं। अतः कुमारिलभट्ट ने अपने निरीश्वरवाद की व्याख्या में विशेषकर नैयायिकों के ईश्वरवाद का ही खण्डन किया है।

यहाँ कुमारिलभट्ट की कुछ युक्तियों का सारांश दिया जा रहा है। नैयायिक, जो यह स्वीकार करते हैं कि इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है, यह भी अवश्य स्वीकार करते होंगे कि सृष्टि के पूर्व ईश्वर का अस्तित्व अवश्य होगा। सृष्टि के पूर्व एकमात्र ईश्वर ही अस्तित्ववान् था। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं थी। परन्तु इस विचार को यदि मान लिया जाए तो अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं जिनका उत्तर देना ईश्वरवादियों के लिए कठिन हो

१५. कुमारिल-श्लोकवार्तिक—, 'सम्बन्धाक्षेप-परिहार', श्लोक ४३-११३. अँग्रेजी अनुवाद-द्वारा गंगानाथ झा, कलकत्ता—१९०७-पृष्ठ ३५५ H. उधृत—"इंडियन एथेइज्म' देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, पृष्ठ—२२०.

नहीं, असंभव है। सृष्टि के पूर्व यदि ईश्वर ही एक मात्र अस्तित्ववान् था, तो उस समय कोई दिक् या स्थान, कोई विश्व या ब्रह्माण्ड आदि नहीं होगा, जहाँ ईश्वर को देखा जा सके, अथवा जहाँ ईश्वर रह सके। तब यह कैसे जाना जा सकता है कि ईश्वर अस्तित्वान् है और उसीने विश्व की सृष्टि की है? उस समय केवल ईश्वर ही था, कोई दूसरी सत्ता नहीं थी, तो विश्व का रूप क्या रहा होगा? जो ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है, उसका अपना स्वरूप क्या रहा होगा? उस समय जब कोई वस्तु थी ही नहीं, तो कौन उस सृष्टिकर्त्ता को जानते थे? किसने सर्वप्रथम ईश्वर की विशेपताओं का वर्णन किया? सृष्टि के पूर्व, प्रत्यक्षीकरण के अभाव में ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कैसे ज्ञान प्राप्त हुआ? दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ईश्वरवादी इस तथ्य को किसी भी तरह प्रमाणित नहीं कर सकते कि सृष्टि के पहले किसी सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर का अस्तित्व था। वे इन सारे प्रश्नों का कोई संतोपजनक उत्तर नहीं दे सकते हैं। अतः यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सृष्टि के पूर्व किसी कर्त्ता का अस्तित्व था। अतः ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।[१६].

(२) यदि ईश्वरवादियों का यह मत मान भी लिया जाए कि सृष्टिकर्त्ता है, और वह ईश्वर है, तो फिर यह प्रश्न उठता है कि यह शरीरी है या अशरीरी? ये दोनों विकल्प अमान्य हैं। मानलिया जाए कि ईश्वर अशरीरी है, तो वैसे अशरीरी ईश्वर को किसी प्रकार की इच्छा नहीं हो सकती, सृष्टि करने की भी इच्छा नहीं हो सकती। परन्तु ईश्वर बिना सृष्टि की इच्छा के सृष्टि नहीं कर सकता है। ईश्वरवादी इससे बचने के लिए ईश्वर को शरारी मान लेते हैं। परन्तु ईश्वर को शरीरी मान लेने से और अन्य सारी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं जिनका उत्तर संभव नहीं। चूँकि ईश्वर शरीरी है, तो यह मानना होगा कि ईश्वर अपने शरीर का स्वयं सृष्टिकर्त्ता या कारण नहीं है। यदि वह स्वयं कारण नहीं है तो दूसरा कौन है? इस तरह अनवस्था या चक्रक दोष आ जाता है।

(३) यदि ईश्वर अशरीरी है और वह नित्य है, तो किन तत्वों के सम्मिश्रण से उसका शरीर बना है? यदि ईश्वर का शरीर नित्य नहीं है तो अनित्य अवश्य होगा। अनित्य होने पर ईश्वर का शरीर भी अन्य जीवों के

---

१६. कुमारिलभट्ट—श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप परिहार, १४४; चोदना सूत्र—१४२.

मीमांसक कुमारिलभट्ट एवं अन्य निरीश्वरवादी विचारकों ने नैयायिकों के ईश्वरवाद की कड़ी आलोचना की है, और ईश्वर के अस्तित्व की युक्तियों का खंडन करते हुए निरीश्वरवाद की स्थापना की है। यहाँ केवल कुमारिलभट्ट के द्वारा की गई ईश्वर की आलोचनाओं का ही वर्णन किया जाता है। कुमारिल ने अपने 'श्लोक वार्तिक' में (श्लोक ४३ से ११३ तक) ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया है। इस ग्रन्थ में इन्होंने तीन प्रकार के ईश्वरवादी मतों का अलग-अलग खण्डन किया है।

(१) श्लोक ४३ से ६६ तक में बादरायण के ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित ईश्वरवाद का खण्डन है।

(२) श्लोक ६७ से ८२ तक न्याय-वैशेपिक द्वारा स्थापित ईश्वरवाद का खण्डन है।[१५]

(३) श्लोक ८३ से ८६ तक अद्वैत वेदान्त द्वारा निरूपित ईश्वर का खण्डन है।

बाद के अन्य श्लोकों में वैदिक ईश्वर के विषय में उठाए गए प्रश्नों का उत्तर एवं मीमांसा द्वारा 'अर्थवाद' की व्याख्या की गई है। यहाँ केवल नैयायिकों के ईश्वरवाद का ही खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है। जैन-दार्शनिकों ने, जिनमें गुणरत्न का नाम प्रमुख है और बौद्ध-दार्शनिक शान्तरक्षित एवं कमलशील आदि ने भी नैयायिक ईश्वरवाद का खण्डन किया है। इसका कारण यह है कि भारतीय-दर्शन में 'ईश्वरवाद' की व्याख्या नैयायिक दार्शनिकों ने जितने विस्तृत ढंग से की है. उस तरह और किसी दर्शन ने नहीं। अतः कुमारिलभट्ट ने अपने निरीश्वरवाद की व्याख्या में विशेषकर नैयायिकों के ईश्वरवाद का ही खण्डन किया है।

यहाँ कुमारिलभट्ट की कुछ युक्तियों का सारांश दिया जा रहा है। नैयायिक, जो यह स्वीकार करते हैं कि इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है, यह भी अवश्य स्वीकार करते होंगे कि सृष्टि के पूर्व ईश्वर का अस्तित्व अवश्य होगा। सृष्टि के पूर्व एकमात्र ईश्वर ही अस्तित्ववान् था। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं थी। परन्तु इस विचार को यदि मान लिया जाए तो अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं जिनका उत्तर देना ईश्वरवादियों के लिए कठिन हो

१५. कुमारिल-श्लोकवार्तिक—, 'सम्बन्धाक्षेप-परिहार', श्लोक ४३-११३.
अंग्रेजी अनुवाद-द्वारा गंगानाथ झा, कलकत्ता—१९०७-पृष्ठ ३५५ H.
उधृत—"इंडियन एथेइज्म' देवी प्रसाद चट्टोपाधाय. पृष्ठ—२२०.

नहीं, असंभव है। सृष्टि के पूर्व यदि ईश्वर ही एक मात्र अस्तित्ववान् था, तो उस समय कोई दिक् या स्थान, कोई विश्व या ब्रह्माण्ड आदि नहीं होगा, जहाँ ईश्वर को देखा जा सके, अथवा जहाँ ईश्वर रह सके। तब यह कैसे जाना जा सकता है कि ईश्वर अस्तित्वान् है और उसीने विश्व की सृष्टि की है? उस समय केवल ईश्वर ही था, कोई दूसरी सत्ता नहीं थी, तो विश्व का रूप क्या रहा होगा? जो ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है, उसका अपना स्वरूप क्या रहा होगा? उस समय जब कोई वस्तु थी ही नहीं, तो कौन उस सृष्टिकर्त्ता को जानते थे? किसने सर्वप्रथम ईश्वर की विशेषताओं का वर्णन किया? सृष्टि के पूर्व, प्रत्यक्षीकरण के अभाव में ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कैसे ज्ञान प्राप्त हुआ? दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ईश्वरवादी इस तथ्य को किसी भी तरह प्रमाणित नहीं कर सकते कि सृष्टि के पहले किसी सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर का अस्तित्व था। वे इन सारे प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते हैं। अतः यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सृष्टि के पूर्व किसी कर्त्ता का अस्तित्व था। अतः ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।[१६]

(२) यदि ईश्वरवादियों का यह मत मान भी लिया जाए कि सृष्टिकर्त्ता है, और वह ईश्वर है, तो फिर यह प्रश्न उठता है कि यह शरीरी है या अशरीरी? ये दोनों विकल्प अमान्य हैं। मानलिया जाए कि ईश्वर अशरीरी है, तो वैसे अशरीरी ईश्वर को किसी प्रकार की इच्छा नहीं हो सकती, सृष्टि करने की भी इच्छा नहीं हो सकती। परन्तु ईश्वर बिना सृष्टि की इच्छा के सृष्टि नहीं कर सकता है। ईश्वरवादी इससे बचने के लिए ईश्वर को शरीरी मान लेते हैं। परन्तु ईश्वर को शरीरी मान लेने से और अन्य सारी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं जिनका उत्तर संभव नहीं। चूँकि ईश्वर शरीरी है, तो यह मानना होगा कि ईश्वर अपने शरीर का स्वयं सृष्टिकर्त्ता या कारण नहीं है। यदि वह स्वयं कारण नहीं है तो दूसरा कौन है? इस तरह अनवस्था या चक्रक दोष आ जाता है।

(३) यदि ईश्वर अशरीरी है और वह नित्य है, तो किन तत्वों के सम्मिश्रण से उसका शरीर बना है? यदि ईश्वर का शरीर नित्य नहीं है तो अनित्य अवश्य होगा। अनित्य होने पर ईश्वर का शरीर भी अन्य जीवों के

---

१६. कुमारिलभट्ट—श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप परिहार, १४४, चोदना सूत्र—१४२.

शरीर की तरह क्षणभंगुर हो जाएगा। जीव जिन सीमाओं, बन्धनों एवं विषमताओं से युक्त है, उनसे ईश्वर भी युक्त हो जाएगा, और तब जीवात्मा एवं परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। फिर जीवों का शरीर उसके धर्म-अधर्म का प्रतिफल है पर ईश्वर का शरीर किस धर्म, अधर्म का प्रतिफल माना जाएगा? क्योंकि ईश्वर तो धर्म-अधर्म की सीमा से परे माना गया है। अतः ईश्वरवादियों के द्वारा ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता होना प्रमाणित नहीं होता।

(४) यदि ईश्वरवादी के इस कथन को मानलिया जाए कि ईश्वर शरीरी है और उसकी इच्छा से सृष्टि हुई है, तो भी ईश्वर के अस्तित्व और सकर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि यदि विश्व ईश्वर की ऐच्छिक सृष्टि है, तो फिर विश्व में 'अशुभ' तत्त्व क्यों हैं? क्या कारण है कि ईश्वर ने अपनी इच्छा से अशुभ की सृष्टि की है? ईश्वर में अशुभ की सृष्टिकर जीवों को सभी प्रकार के दुःखों से युक्त करने की कैसे इच्छा हुई?

कोई सृष्टिकर्त्ता किसी साधन या यंत्र के अभाव में सृष्टि नहीं कर सकता है। ईश्वर ने सृष्टि की है तो उसका साधन एवं यंत्र क्या है? यदि कोई साधन या यंत्र या उपादान है तो अवश्य ही सृष्टि के पहले से ही है तथा ईश्वर से परे है। यदि ऐसा मान लिया जाता है तो ईश्वर सीमित हो जाता है। तब ईश्वर एकमात्र विश्व का सृष्टिकर्त्ता नहीं रह जाएगा। ईश्वरवादियों के सामने इन सारे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। इसलिए ईश्वर विश्व में निहित 'अशुभ' का कारण नहीं है और न तो ईश्वर की इच्छा से विश्व की सृष्टि ही हुई है। 'अशुभ' तो जीवों के कर्मों का फल है, धर्म-अधर्म का परिणाम। सृष्टि के प्रारम्भ में कोई दूसरा नहीं था, कोई नियंत्रक एवं निर्देशात्मक सिद्धान्त नहीं था, जिसके चलते ईश्वर को अशुभ विश्व के लिए दोषी ठहराया जा सके।[१७]

ईश्वरवादी नैयायिक ईश्वर को इस विश्व के निमित्तकारण के रूप में स्वीकार करते हैं। दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि घट पट आदि जितनी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उनका निर्माता कोई बुद्धियुक्त कर्त्ता ही होता है। निमित्तकारण के आभाव में किसी वस्तु का निर्माण होना असंभव है। यह सम्पूर्ण विश्व एक कार्य रूप में है इसका कोई निमित्तकारण होगा, और वही निमित्त-

---

१७. अस्रष्ट्वापि ह्यसौ ब्रूयादात्मैश्वर्यं प्रकाशनात्—६०

कारण ईश्वर है। जैसे एक कुम्हार या बढ़ई अचेतन मिट्टी, पानी, आदि वस्तुओं से या लकड़ी से घट या कुर्सी-टेबुल का निर्माण करता है, वैसे ही ईश्वर भी इस विश्व का निर्माण कर्त्ता है - इसका निमित्तकारण है।

ईश्वरवादी के इस मत का खण्डन करते हुए कुमारिलभट्ट कहते हैं कि कुम्हार घड़े का निर्माण मिट्टी, पानी आदि उपादान कारणों से करता है। परन्तु निमित्तकारण ईश्वर किन उपादान कारणों से विश्व की सृष्टि करता है? इसके उत्तर में ईश्वरवादी दो मत प्रस्तुत करते हैं :—

(क) ईश्वर बिना किसी उपादान कारण के ही विश्व की सृष्टि करता है।

(ख) ईश्वर परमाणुओं के सम्मिश्रण से विश्व की सृष्टि करता है।

प्रथम कथन के समर्थन में ईश्वरवादियों का मत है कि जिस प्रकार मकड़ा बिना किसी बाहरी उपादान की सहायता से अपने अन्दर से ही जाला बुनती है, उसी प्रकार ईश्वर भी बिना किसी बाहरी उपादान के, अपने ही अन्दर से विश्व की सृष्टि या रचना करता है। अतः यह सोचना कि ईश्वर उपादान-कारण के अभाव में सृष्टि नहीं कर सकता, गलत है। परन्तु कुमारिलभट्ट का मत है कि ईश्वरवादियों को यह उपमा या उदाहरण ही गलत है। वस्तुतः मकड़ी किसी शून्य से किसी वस्तु का निर्माण नहीं करती है, और न तो बिल्कुल अपने अन्दर से ही। इसके विपरीत वह निश्चित वाह्य वस्तुओं से जाल का निर्माण करती है। जाल के निर्माण (कार्य) में मकड़ी की लार तथा उसके द्वारा खाये गये कीड़ों के शरीर का अंश, उपादान कारण के रूप में विद्यमान रहते हैं। अतः ईश्वर द्वारा सृष्टि किये हुए विश्व का उपादान कारण क्या है, इसका उत्तर ईश्वरवादी नहीं दे सकते हैं। यदि उपादान-कारण के बिना ही सृष्टि की गई हो तो विश्व की उत्पत्ति शून्य से हुई है। परन्तु शून्य से किसी वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता है। यदि हम ऐसा मानते हैं तो कारण-कार्य नियम की अवहेलना हो जाती है।

कुछ ईश्वरवादियों का मत है कि ईश्वर ने दो परमाणुओं की 'संख्यायोनि' (परिमाण) से सृष्टि की है। 'द्वयणुक' के कारण भूत दोनों परमाणुओं में रहनेवाल द्वित्व संख्या से विश्व की उत्पत्ति हुई है। परन्तु ये 'द्वित्व परमाणु' अनित्य हैं, इसलिए उत्पत्ति के लिए 'अपेक्षा बुद्धि' का होना आवश्यक है। यही 'अपेक्षा बुद्धि' ईश्वर है। इसी 'अपेक्षा बुद्धि' से दो परमाणुओं में 'द्वित्व' संख्या उत्पन्न

होती है, उस द्वित्व संख्या से 'द्वयणुकगत' 'अणु' परिमाण की उत्पत्ति होती है। इसी कारण से विश्व की सृष्टि हुई है। परन्तु अब प्रश्न उठता है कि क्या ये 'परमाणु' जिनकी सहायता से ईश्वर ने सृष्टि की है, सृष्टि के पूर्व भी थे? इन दो परमाणुओं को उत्पन्न करने वाली कौन सत्ता है? क्या ईश्वर की पूर्णता—सर्वशक्तिमत्ता इन परमाणुओं से सीमित नहीं हो जाती? फिर ईश्वरवादी यह कैसे कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व ईश्वर को छोड़कर दूसरी कोई सत्ता नहीं थी? अतः ईश्वरवादियों का[१८] ईश्वर को निमित्तकारण के रूप में स्वीकार करने का दूसरा तर्क भी मान्य नहीं है। ये जितने सारे प्रश्न उठाये गए हैं, उनका समुचित एवं तर्कसंगत उत्तर ईश्वरवादी नहीं दे सकते हैं। जब ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं प्रमाणित होता है तब उसका निमित्त कारण होना कैसे प्रमाणित हो सकता है?

ईश्वरवादी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि करुणा से प्रेरित होकर की है। ईश्वर करुणामय है, वह जीवों के दुःखों से प्रभावित होकर करुणा के वशीभूत होकर ही जीवात्माओं की भलाई के लिए विश्व का सृष्टि करता है। परन्तु यह मत अतर्कसंगत और अमान्य है।

(१) क्योंकि सृष्टि करने के पहले जब कोई भी जीव नहीं था, तो ईश्वर की करुणा के लिए कोई वस्तु ही नहीं थी, जिसके दुःखों से वे प्रेरित होकर सृष्टि करते।

(२) यदि यह मान भी लिया जाए कि करुणा से प्रेरित होकर ही ईश्वर ने सृष्टि की ही है, तो प्रश्न उठता है कि उन्होंने इस विश्व को आनन्दपूर्ण और सुखपूर्ण सृष्टि के रूप में क्यों नहीं निर्माण किया। इस दुःखपूर्ण, विषमतापूर्ण एवं अशुभ तत्वमिश्रित विश्व की सृष्टि क्यों की? इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने करुणा से विश्व की सृष्टि नहीं की है। इस तरह करुणामय सृष्टि कर्त्ता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

कुछ ईश्वरवादी सृष्टि के लिए 'अनिवार्य अशुभ सिद्धान्त के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि सृष्टि के लिए कुछ दुःख या अशुभ की मात्रा का रहना अनिवार्य है। परन्तु यह मत पूर्णरूपेण अमान्य है क्योंकि ईश्वरवादी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। कोई ईश्वर की क्रियाओं में नियंत्रण आरोपित नहीं कर सकता है। तो क्या यह 'अनिवार्य

---

१८. कुमारिलभट्ट—श्लोकवार्तिक—७२-७३

अशुभ सिद्धान्त' ईश्वर की क्रियाओं को नियंत्रित या सीमित नहीं करता ? यदि उत्तर स्वीकारात्मक है तो, ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानना तर्कसंगत नहीं है। यदि वह सर्वशक्तिमान् है तो कोई भी सिद्धान्त उसे सीमित नहीं कर सकता है। ये दोनों मत एक साथ सही नहीं हो सकते हैं। अतः ईश्वरवादी विचार परस्पर-विरोधी है।

कुमारिल का कहना है कि यदि नैयायिकों का यह मत भी मानलिया जाए कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि की है तो फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या सृष्टि का कोई उद्देश्य या प्रयोजन है, अथवा विना किसी उद्देश्य के ही ईश्वर ने सृष्टि की है ? यदि इसका कोई उद्देश्य नहीं है तो ईश्वर की यह क्रिया (सृष्टि) निरर्थक कार्य है। इस सृष्टि से ईश्वर को श्रेष्ठ बुद्धिवाला नहीं माना जा सकता है। फिर यदि ईश्वर की क्रिया या सृष्टि सोद्देश्य हैं, तो इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर को कोई आवश्यकता थी—उसमें कुछ कमी थी, जिसकी पूर्ति करने के लिए उसने सृष्टि की। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाए, तो ईश्वरवादी का यह कहना कि ईश्वर पूर्ण है, कट जाता है। यदि ईश्वर पूर्ण नहीं है तो अवश्य ही अपूर्ण होगा। और यदि ईश्वर अपूर्ण है, तो ईश्वर और जीव में अन्तर नहीं होगा। ईश्वर भी जीव की तरह सीमित, अनित्य हो जाएगा। उसकी नित्यता, सर्वशक्तिमता एवं सर्वज्ञता के गुण समाप्त हो जायेंगे।

साथ ही अपूर्ण ईश्वर सृष्टि नहीं कर सकता है, क्योंकि अपूर्ण जीवात्मा विश्व की सृष्टि नहीं कर सकता। ईश्वर अपूर्ण होने से अनित्य हो जाएगा, और अन्य सीमित तथा अनित्य वस्तुओं की तरह ईश्वर भी तब जन्म लेता एवं मिटता रहेगा। इस प्रकार पूर्ण ईश्वर की सत्ता खंडित हो जाएगी। अतः ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। ईश्वर को नित्य एवं असीम ज्ञान होता है। यदि यह सत्य है तो इसके लिए कुछ अन्य समर्थक उदाहरण देने होंगे, जिनके अनुमान के आधार पर ईश्वर की सर्वज्ञता, उसके ज्ञान की नित्यता एवं असीमता की सिद्धि हो सके। परन्तु ईश्वरवादियों के लिए ऐसा समर्थक उदाहरण देना संभव नहीं है। संभवतः ऐसे जो उदाहरण दिए भी जायेंगे वे इच्छित साध्य

के विपरीत होंगे। उनसे सीमित या क्षणिक ज्ञान की संभावना ही सिद्ध होगी। अतः ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर उसके ज्ञान को असीम एवं नित्य मानना भ्रम है,

सृष्टिकर्त्ता या निर्माता कभी नित्य हो ही नहीं सकता है क्योंकि कर्म और अकर्म परस्पर एक दूसरे के व्याघाती होते हैं। ज्ञान के विषय हमेशा अनुक्रमिक (अनित्य) होते हैं। अतः उनका ज्ञान भी वैसा ही होगा। जो ज्ञान ईश्वर प्राप्त करता है वह भी अवश्य ही अनुक्रमिक, क्षणिक या अनित्य होगा, क्योंकि ईश्वर-ज्ञान भी ज्ञेय वस्तुओं से सम्बन्धित रहता है, जो क्षणिक है, अनित्य है। इसलिए ईश्वर-ज्ञान भी नित्य नहीं हो सकता और जब वह नित्य नहीं है, असीम नहीं है, बल्कि क्षणिक, सीमित एवं अनित्य ज्ञान है, तो ईश्वर को सर्वज्ञ कैसे माना जा सकता है? ईश्वर का ज्ञान भी वैसा ही होगा जैसा अन्य सीमित जीवों, (देवदत्त आदि) का होता है।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित और कमलशील' ने भी ईश्वर को सर्वज्ञता एवं नित्य-ज्ञान' की आलोचना की है। इसके विषय में उन्होंने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं :—

१. कमलशील का मत कुमारिल की तरह ही है कि ईश्वर कभी नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि जो भी नित्य रूप में देखा जाता है वह कभी भी किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है और जो नित्य ही नहीं है, उसका ज्ञान नित्य कैसे हो सकता है?

२. ईश्वर का ज्ञान भी नित्य नहीं हो सकता है, क्योंकि जो ज्ञान अनित्य वस्तुओं से संबंधित रहता है, वह नित्य कैसे होगा?

प्रथम तर्क के समर्थन में कहा जा सकता है कि कारण की विशेषता उसके परिवर्त्तन में निहित है। अर्थात् जो इस 'क्षण' में वर्त्तमान' है वह दूसरे क्षण में 'भूत' हो जाता है। अतः केवल अनित्य वस्तुएं ही किसी कार्य को उत्पन्न कर सकती हैं, या किसी कार्य का कारण हो सकती हैं। शान्तरक्षित ने इस तर्क को एक उदाहरण के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। बीज अंकुर का कारण है और अंकुर कार्य है। ऐसा इसलिए होता है कि क्योंकि बीज स्वयं अनित्य वस्तु है। यदि बीज नित्य होता तो वह अंकुर के रूप में परिणत नहीं होता। जिस बीज से हम अंकुर उत्पन्न होते देखते हैं, वह अनित्य वस्तु है, क्योंकि परिणामी है। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर इस विश्व का मूल कारण है, तो वह नित्यसत्ता के रूप में नहीं माना जा सकता। क्या एक ही पदार्थ

एक ही समय में नित्य और अनित्य दोनों हो सकते हैं ? ऐसा मानना आत्मव्याघाती तथा हास्यास्पद होगा। इसलिए यदि ईश्वर विश्व का मूल कारण है, तो वह नित्य नहीं हो सकता, और यदि वह नित्य है तो विश्व का मूल कारण नहीं हो सकता।

(१३) न्याय-वैशेषिक का मत है कि जीवों के धर्म-अधर्म उसके कर्मों के फल हैं, जो किसी चेतन सत्ता से निर्देशित होते रहते हैं क्योंकि धर्म-अधर्म मूलतः अचेतन होते हैं। जीव अपने कर्मों का फल स्वतः नहीं भोगता है। कर्म फलदाता तो ईश्वर हैं जिसके निर्देशन से वह (जीव) धर्म-अधर्म फल का भागी होता है। इस कथन के उत्तर में कुमारिल भट्ट का कहना है कि—नैयायिकों का यह मत सही नहीं है क्योंकि धर्म-अधर्म उसी बौद्धिक चेतन जीव में निहित रहता है जिसमें शरीर हो। किसी भी ऐसी सत्ता को जिसे शरीर नहीं है, दूसरे के धर्म-अधर्म का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः जीवों के कर्मों से उत्पन्न धर्म-अधर्म का ज्ञान ईश्वर को नहीं हो सकता। अतः ईश्वर को जीवों के कर्मों का 'फलदाता' या निर्देशक नहीं माना जा सकता।

(१४) फिर जीवों के धर्म-अधर्म और ईश्वर में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, जिस कारण ईश्वर को 'कर्म-फलदाता' माना जा सके। न्याय-वैशेषिक के द्वारा दो प्रकार के सम्बन्ध माने गये हैं—(क) संयोग और (ख) समवाय। संयोग सम्बन्ध, धर्म-अधर्म और ईश्वर के बीच नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों के बीच में ही होता है। धर्म-अधर्म तो गुण हैं। अतः गुण के साथ यह सम्बन्ध नहीं हो सकता।

इन दोनों के बीच 'समवाय' सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है क्योंकि धर्म-अधर्म जीवों में रहता है, ईश्वर में नहीं। समवाय सम्बन्ध द्रव्य और उसके गुणों के बीच रहता है जो यहाँ ईश्वर के साथ संभव नहीं है। किसी तीसरे प्रकार का सम्बन्ध भी संभव नहीं है जिससे ईश्वर जीवों के धर्म-अधर्म को नियंत्रित कर सके। यह तभी संभव हो सकता है, जब ईश्वर को जीवों के धर्म-अधर्म का अनिवार्य ज्ञान हो। परन्तु ईश्वर में ऐसा ज्ञान होना संभव नहीं है, क्योंकि ईश्वर धर्म-अधर्म का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। प्रत्यक्ष-ज्ञान के लिए 'मन' का होना आवश्यक है। मन तो शरीर के अन्दर रहता है। इसलिए जिसे शरीर रहता है वही प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। ईश्वर अशरीरी है, इसलिए उसमें 'मन' का अभाव है, और मन के अभाव

में धर्म-अधर्म का प्रत्यक्ष-ज्ञान संभव नहीं हो सकता। जब यह प्रत्यक्ष-ज्ञान ही संभव नहीं, तो अनिवार्य-ज्ञान कैसे हो सकता है ? अतः कुमारिल के अनुसार ईश्वर जीवों के धर्म-अधर्म का नियंत्रक या कर्म-फलदाता नहीं हो सकता।

(१५) नैयायिक वेद को पौरुषेय मानते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि वेद, जगत् की अन्य वस्तुओं की भाँति जो उत्पत्ति और विनाश के अधीन हैं, अनित्य हैं। इसपर भी यदि वेद सत्यज्ञान के उद्भव-स्थान हैं, तो इसलिए उनका रचयिता ईश्वर है।[१९] वेद पौरुषेय हैं इसके समर्थन में वे श्रुति के वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिनमे ईश्वर को वेदों का कर्त्ता घोषित किया गया है; जैसे :—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदोयजुर्वेदः' (बृ० उप० २।४।१०)[२०]. 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।' (ऋ० १०।९०।९)[२१].

लेकिन मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते है और ईश्वर को वेद का रचयिता माननेवाले नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :—

(क) जहाँ ग्रन्थ के आदि, मध्य या अन्त में ग्रन्थकार ने कर्त्ता के रूप में अपने नाम का उल्लेख किया है, वहाँ तो कोई विवाद ही नहीं। वह तो पौरुषेय है ही, जैसे महाभाष्य रघुवंश, श्लोकवार्तिक आदि। जहाँ ग्रन्थकार से आरंभ करके अविच्छिन्न सम्प्रदाय के द्वारा गुरुपरंपरा से कर्त्ता का स्मरण किया जाता है, वहाँ भी विवाद नही होता जैसे—पाणिनि आदि में। जहाँ विच्छिन्न संप्रदाय होने के कारण कर्त्ता का स्मरण नहीं है, वहाँ संदेह हो सकता है। किन्तु जहाँ संप्रदाय अविच्छिन्न (लगातार) रहने पर भी कर्त्ता का स्मरण न हो, वहाँ तो कर्त्ता का न होना ही सूचित होता है।[२२] अतः वेद को पौरुषेय या ईश्वरकर्तृक सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(ख) कुमारिल का कहना है—

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्याद धुनाध्ययनं यथा॥"[२३]

---

१९. उदयन—न्यायकुसुमाञ्जलि—२ : १.
२०. बृ० उप०—२।४।१०.
२१. ऋग्वेद—१०।९०।९.
२२. हिन्दी दर्शन संग्रह—भाष्यकार—रमाशंकर शर्मा 'ऋषि' पृष्ठ—५४१-४२.
२३. कुमारिल—श्लोकवार्तिक—३।३६६.

अर्थात्, वेद का अध्ययन गुरुशिष्य-परंपरा से होता है। इसकी परंपरा अविच्छिन्न रूप से चलती आयी है। ऐसा कोई अध्ययन नहीं जो गुरु के विना हुआ हो। यदि हम नैयायिकों के पौरुषेय पक्ष को स्वीकार करते हैं, तो वेद के रचयिता (ईश्वर) के द्वारा किया गया वेदाध्ययन विना गुरु के ही सिद्ध होगा। अतः यह विचार असंगत है। जब ईश्वर का अस्तित्व सृष्टिकर्त्ता या सर्वज्ञ के रूप में संभव ही नहीं, तो फिर उसको वेद का रचयिता कैसे माना जा सकता है? इस तरह वेदकर्त्ता के रूप में भी 'ईश्वर' को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

कुमारिल भट्ट की युक्तियों का निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि एवं प्रलय को वर्त्तमान दैनिक उत्पत्ति एवं विनाश के अनुभवों के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता, और इसपर आधारित ईश्वर की सिद्धि भी नहीं की जा सकती।' नैयायिकों द्वारा दिए गये तर्कों के आधार पर ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, कर्मफलदाता, सर्वज्ञ एवं नित्य आदि रूपों में नहीं माना जा सकता है। इस तरह कुमारिलभट्ट ने ईश्वरवादियों (विशेषतः नैयायिकों) के तर्कों का खण्डन कर मीमांसा दर्शन में निरीश्वरवाद की स्थापना की है।

---

२४. श्लोकवार्तिक—श्लोक—११३.
उद्धृत —'इन्डियन ऐथेइज्म' द्वारा देवी प्रसाद चट्टोपाधाय पृष्ठ—सं०—२३४.

उद्घृत ग्रन्थों की सूची

१. न्यायकुसुमाञ्जलि—उदयनाचार्य—संस्कृत
२. हिन्दी न्यायकुसुमाञ्जलि—भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर।
३. न्यायदर्शनम्—(गौतमीयं)—संस्कृतभाष्य वात्स्यायन का हिन्दी अनुवाद—स्वामी द्वारिका दास शास्त्री।
४. न्याय परिचय—म० म० फणिभूषण तर्कवागीश—हिन्दी अनुवाद डा० किशोरनाथ झा।
५. हिन्दी सर्वदर्शन संग्रह—भाष्यकार—उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'।
६. श्लोकवार्तिक।
७. मीमांसा दर्शन-जैमिनिसूत्र-भाष्यकार—पं० श्री राम शर्मा आचार्य।
८. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी
९. भारतीय-दर्शन (हिन्दी)—राधाकृष्णन्।
१०. 'इन्डियन एथेइज्म'—देवी पसाद चट्टोपाध्याय।

चाक्षुष प्रत्यक्ष की समस्या

प्रो० लाला पंचानन्द सिनहा

न्यायसूत्रकार गौतम का मत है कि चक्षुरिन्द्रिय बाह्य पदार्थ के पास जाकर उसका सन्निकर्ष करती है और तब उस सन्निकर्ष के फलस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। न्याय के इस सिद्धान्त को (जिसे 'प्राप्यकारितावाद' कहते हैं) मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों में भी मान्यता दी गई है।*

गौतम के सिद्धान्त के विरुद्ध बौद्ध दार्शनिक का कहना है कि चक्षु या चक्षु से वृत्ति निकलकर बाह्य वस्तु, जैसे पेड़ या बर्त्तन के पास जाकर उससे सन्निकर्ष नहीं करती है। इस सम्बन्ध में बौद्ध दार्शनिक दिङ्नागाचार्य निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं :—

(१) आँख की पुतली ही चक्षुरिन्द्रिय है। अतः इसका शरीर से बाहर जाकर बाह्य वस्तु से सन्निकर्ष करना असंभव है।

(२) चक्षुरिन्द्रिय अपने से कई गुना बड़ी बड़ी वस्तुएँ, जैसे वृक्ष, पहाड़ इत्यादि का प्रत्यक्ष करती है। ये विशाल पदार्थ छोटी सी आँख की पुतली में कैसे समा सकते हैं ?

(३) चक्षुरिन्द्रिय निकट की वस्तु जैसे वृक्ष या दूर की वस्तु जैसे चन्द्रमा को प्रत्यक्ष करने में एक समय लेती है।

(४) चक्षुरिन्द्रिय का शीशे के पीछे की वस्तु से सन्निकर्ष नहीं होता।

इन बातों से यह सिद्ध होता है कि चक्षुरिन्द्रिय बाह्य वस्तु के पास नहीं जाती है।

प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य अपनी 'किरणावली' में उपर्युक्त आपत्तियों का इस प्रकार निराकरण करते हैं—

(१) चक्षुरिन्द्रिय 'आँख की पुतली' नहीं है, बल्कि 'प्रकाश' है। चक्षु

---

* देखिए, वेदान्त परिभाषा, श्लोक वार्तिक, शास्त्रदीपिका, विवरण प्रमेय संग्रह आदि।

से 'प्रकाश' बाहर जाकर वस्तु को उसी तरह ग्रहण करता है जिस तरह दीपक से रोशनी बाहर जाकर किसी वस्तु को आलोकित करती है।

(२) चक्षुरिन्द्रिय का प्रकाश बाहर जाकर बड़ी-बड़ी वस्तुओं जैसे पहाड़, वृक्ष, इत्यादि पर फैल जाता है और उन्हें ग्रहण करता है।

(३) नजदीक की वस्तु जैसे वृक्ष, और दूर की वस्तु जैसे चन्द्रमा, को देखने में एक ही समय नहीं लगता है। यह दूसरी बात है कि हम समय के अति सूक्ष्म भेदों को नहीं पकड़ पाते।*

(४) शीशा पारदर्शक है। अतः चक्षुरिन्द्रिय का प्रकाश शीशे के पीछे की वस्तु का ग्रहण कर लेता है।

बौद्ध दार्शनिकों ने प्राय: यह समझा कि चक्षुरिन्द्रिय 'आँख की पुतली, यानी शारीरिक है। अतः यह शरीर से बाहर निकलकर वस्तु के पास जाकर उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। किन्तु यदि उदयन की यह बात मान ली जाय कि चक्षुरिन्द्रिय 'प्रकाश' है तब इसका आँख से बाहर जाना और वस्तु का प्रत्यक्ष करना अस्वाभाविक नहीं लगता।†

किन्तु मूल प्रश्न यह नहीं है कि चक्षुरिन्द्रिय (चाहे आँख की पुतली हो अथवा प्रकाश हो) बाह्य वस्तु के पास जाती है अथवा नहीं जाती है। मूल प्रश्न यह है; क्या चक्षुरिन्द्रिय का विषय बाह्य वस्तु है? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'भावात्मक' है, तब यह इन्द्रिय बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष करेगी ही। किन्तु यदि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है, यानी चक्षुरिन्द्रिय का विषय बाह्य नहीं है, तब दो प्रश्न उठते हैं —

(१) बाह्य वस्तु किस इन्द्रिय का विषय है?

(२) क्या चक्षुरिन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रिय की वस्तु का प्रत्यक्ष करती है? यदि करती है तो किस प्रकार?

अब इस बात पर विचार किया जाय कि चक्षुरिन्द्रिय का विषय बाह्य वस्तु है या नहीं।‡ यदि बाह्य वस्तु चक्षुरिन्द्रिय का विषय रहती तो हम

---

* महान् दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने भी कहा है कि सूर्य को, जो पृथ्वी से करीब ९ करोड़ मील की दूरी पर है, देखने में करीब ९ मिनट लगते हैं। किन्तु इतना समय उसके नजदीक की वस्तुओं को देखने में नहीं लगता है। की जार्ज बर्कले, एसे ऑन विजन १७०९ खंड ४४-४५।

† देखिए प्रोफेसर धीरेन्द्र मोहन दत्त का 'दी सिक्स वेज ऑफ नोईंग' १९६०, पृष्ठ ४५-४९

‡ जार्ज बर्कले, एसे ऑन विजन, १७०९ खंड ४४-४५।

वेद का भौतिक दृष्टिकोण

प्रो० डा० उमा गुप्ता

वेद का दृष्टिकोण मुख्यतः क्या है ? आध्यात्मिक या भौतिक ? क्या वैदिक देवता आध्यात्मिक आदर्शों के प्रतीक हैं या भौतिक शक्तियों के ? वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि देवतागण भौतिक वरदानों के दाता के रूप में माने गए हैं, न कि नैतिकता के प्रेरक रूप में। वैदिक आचारशास्त्र वैदिक विश्व-कल्पना पर आधारित है, और वह प्रकृतिवादी है। प्राकृतिक नियम देवताओं से भी अधिक प्रबल माने गए हैं। वैदिक विचारों में वह भौतिकवादी दृष्टिकोण सन्निहित है, जो विज्ञान की उत्पत्ति का उद्गम स्रोत है।

वैदिक देवता प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप हैं, जिनपर मानवीय गुण आरोपित कर दिये गए है। अनेक-देववाद की कल्पना में प्राकृतिक शक्तियों और मानवीय प्रवृत्तियों का गठबंधन किया गया है।

प्राकृतिक घटनाएँ 'ऋत' अर्थात विश्व के नियम से नियंत्रित होती हैं। वैदिक युग के चिन्तक इस वैज्ञानिक तथ्य को जानते थे कि प्रकृति में नियम, व्यवस्था और सामंजस्य है। प्रकृति के विभिन्न अंशों का प्रतिनिधित्व करनेवाले देवता भी इस अपरिवर्तनशील नियम के अधीन हैं। उसी नियम के अनुसार हवा चलती है, नदी बहती है, सुबह-शाम होती है, ऋतुएँ बदलती हैं। इस प्रकार वैदिक विचारधारा एक विश्वजनीन नियम (Cosmic law) पर केंद्रित है।

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की तरह वैदिक आर्यों की विश्व-कल्पना मूलतः जड़वादी थी। उसमें जल, वायु और अग्नि आदि प्रधान तत्त्व माने जाते थे। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की व्याख्या के क्रम में एक 'ब्रह्मणस्पति' की कल्पना भी सन्निविष्ट कर दी। अर्थात् सृष्टिकर्त्ता एक ऐसे कर्मकार की तरह है, जो भौतिक तत्त्वों की सहायता से जगत् की रचना करता है। वह कर्त्ता एक बृहद् पुरुष के रूप में कल्पित किया गया है, जो सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात् है।

वैदिक युग के दार्शनिकों के मस्तिक में कई प्रश्न उठे। वह पुरुष कहाँ से आया? देवतागण कैसे आ गये? उनके पहले क्या था? क्या पहले शून्य या असत् (Non-Being) था? और उसीसे अस्तित्व (Being) की उत्पत्ति हुई? अथवा कोई मूलबीज पहले ही से था, जिसका परिणाम यह विश्व है? कहीं-कहीं उस मूल तत्व को 'हिरण्यगर्भ' (Golden Embryc) कहा गया है।

वैदिक आर्य यथार्थवादी थे। उनके सृष्टि-विचार को विकासवाद का बीज कहा जा सकता है। प्राणिविज्ञान के अनुसार जीवन की उत्पत्ति जलीय वातावरण में नमी और ताप के विशेष संयोग से होती है। वैदिक मनीषी भी जल और अग्नि, दोनों को सृष्टि की प्रक्रिया के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं। कहीं-कहीं उनकी आश्चर्यजनक अन्तर्दृष्टि उन्हें आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के समीप ला देती है।

वेदों में भौतिक विचारधारा ओतप्रोत है। भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति, गोधन और स्वर्ण-राशि, युद्ध में विजय, लूट के धन का बँटवारा, शत्रुनाश, प्रचुर वर्षा और खाद्यान्न, शतवर्षीय स्वस्थ जीवन—ये ही उनकी इच्छाओं के विषयहैं। संन्यास की प्रवृत्ति या निवृत्ति-मार्ग की सराहना उनके जीवन-दर्शन के अनुकूल नहीं थी। अध्यात्मवाद उपनिषद् की देन है। उसके पहले के वैदिक ऋषि अध्यात्मवादी नहीं कहे जा सकते। वे भौतिक सुख-समृद्धि के उपासक थे।

वैदिक देवता भी मानवीय दुर्बलताओं से परे नहीं हैं। वे मनुष्यों की तरह व्यवहार करते हैं और उनसे आदान-प्रदान का सम्बन्ध रखते हैं। वे मनुष्य से अधिक शक्तिशाली हैं और इसलिए उनकी स्तुतियाँ की जाती हैं। वैदिक आर्य उन शक्तियों की पूजा में लगे रहे, जो उनकी रक्षा कर सकें। इसी कारण वे नदियों और पहाड़ों की, जंगलों और वृक्षों तक की पूजा करते रहे। उनका विश्वास था कि उनमें अधिष्ठित देवता 'बलि' आदि की भेंट चढ़ाने से संतुष्ट हो जायँगे और उन्हें अभीष्ट वर देने के लिए बाध्य हो जायँगे।

वैदिक मंत्रों और आहुतियों का उद्देश्य था देवताओं को प्रभावित कर प्राकृतिक घटनाओं के नियंत्रण में उन्हें प्रेरित करना। पूजा की विधियों का रूप रहस्यात्मक था। मंत्रों में जादुई शक्ति मानी जाती थी। पुरोहितगण वैसे जादूगर समझे जाते थे, जो अपने गूढ क्रिया-कलापों के द्वारा, मंत्रोच्चारण एवं बलियों के प्रभाव से देवताओं को वशीभूत कर इच्छित वस्तु की प्राप्ति कर सकते थे।

वेद का भौतिक दृष्टिकोण

प्रो० डा० उमा गुप्ता

वेद का दृष्टिकोण मुख्यत: क्या है ? आध्यात्मिक या भौतिक ? क्या वैदिक देवता आध्यात्मिक आदर्शों के प्रतोक हैं या भौतिक शक्तियों के ? वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि देवतागण भौतिक वरदानों के दाता के रूप में माने गए हैं, न कि नैतिकता के प्रेरक रूप में। वैदिक आचारशास्त्र वैदिक विश्व-कल्पना पर आधारित है, और वह प्रकृतिवादी है। प्राकृतिक नियम देवताओं से भी अधिक प्रबल माने गए हैं। वैदिक विचारों में वह भौतिकवादी दृष्टिकोण सन्निहित है, जो विज्ञान की उत्पत्ति का उद्‌गम स्रोत है।

वैदिक देवता प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप हैं, जिनपर मानवीय गुण आरोपित कर दिये गए है। अनेक-देववाद की कल्पना में प्राकृतिक शक्तियों और मानवीय प्रवृत्तियों का गठबंधन किया गया है।

प्राकृतिक घटनाएँ 'ऋत' अर्थात विश्व के नियम से नियंत्रित होती हैं। वैदिक युग के चिन्तक इस वैज्ञानिक तथ्य को जानते थे कि प्रकृति में नियम, व्यवस्था और सामंजस्य है। प्रकृति के विभिन्न अंशों का प्रतिनिधित्व करनेवाले देवता भी इस अपरिवर्तनशील नियम के अधीन हैं। उसी नियम के अनुसार हवा चलती है, नदी बहती है, सुबह-शाम होती है, ऋतुएँ बदलती हैं। इस प्रकार वैदिक विचारधारा एक विश्वजनीन नियम (Cosmic law) पर केंद्रित है।

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की तरह वैदिक आर्यों की विश्व-कल्पना मूलत: जड़वादी थी। उसमें जल, वायु और अग्नि आदि प्रधान तत्त्व माने जाते थे। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की व्याख्या के क्रम में एक 'ब्रह्मणस्पति' की कल्पना भी सन्निविष्ट कर दी। अर्थात् सृष्टिकर्त्ता एक ऐसे कर्मकार की तरह है, जो भौतिक तत्त्वों की सहायता से जगत् की रचना करता है। वह कर्त्ता एक बृहद् पुरुष के रूप में कल्पित किया गया है, जो सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपाद् है।

वैदिक युग के दार्शनिकों के मस्तिष्क में कई प्रश्न उठे। वह पुरुष कहाँ से आया ? देवतागण कैसे आ गये ? उनके पहले क्या था ? क्या पहले शून्य या असत् (Non-Being) था ? और उसीसे अस्तित्व (Being) की उत्पत्ति हुई ? अथवा कोई मूलबीज पहले ही से था, जिसका परिणाम यह विश्व है ? कहीं-कहीं उस मूल तत्व को 'हिरण्यगर्भ' (Golden Embryo) कहा गया है।

वैदिक आर्य यथार्थवादी थे। उनके सृष्टि-विचार को विकासवाद का बीज कहा जा सकता है। प्राणिविज्ञान के अनुसार जीवन की उत्पत्ति जलीय वातावरण में नमी और ताप के विशेष संयोग से होती है। वैदिक मनीषी भी जल और अग्नि, दोनों को सृष्टि की प्रक्रिया के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं। कहीं-कहीं उनकी आश्चर्यजनक अन्तर्दृष्टि उन्हें आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के समीप ला देती है।

वेदों में भौतिक विचारधारा ओतप्रोत है ! भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति, गोधन और स्वर्ण-राशि, युद्ध में विजय, लूट के धन का बँटवारा, शत्रुनाश, प्रचुर वर्षा और खाद्यान्न, शतवर्षीय स्वस्थ जीवन—ये ही उनकी इच्छाओं के विषयहैं। संन्यास की प्रवृत्ति या निवृत्ति-मार्ग की सराहना उनके जीवन-दर्शन के अनुकूल नहीं थी। अध्यात्मवाद उपनिषद् की देन है। उसके पहले के वैदिक ऋषि अध्यात्मवादी नहीं कहे जा सकते। वे भौतिक सुख-समृद्धि के उपासक थे।

वैदिक देवता भी मानवीय दुर्बलताओं से परे नहीं हैं। वे मनुष्यों की तरह व्यवहार करते हैं और उनसे आदान-प्रदान का सम्बन्ध रखते हैं। वे मनुष्य से अधिक शक्तिशाली हैं और इसलिए उनकी स्तुतियाँ की जाती हैं। वैदिक आर्य उन शक्तियों की पूजा में लगे रहे, जो उनकी रक्षा कर सकें। इसी कारण वे नदियों और पहाड़ों की, जंगलों और वृक्षों तक की पूजा करते रहे। उनका विश्वास था कि उनमें अधिष्ठित देवता 'बलि' आदि की भेंट चढ़ाने से संतुष्ट हो जायँगे और उन्हें अभीष्ट वर देने के लिए बाध्य हो जायँगे।

वैदिक मंत्रों और आहुतियों का उद्देश्य था देवताओं को प्रभावित कर प्राकृतिक घटनाओं के नियंत्रण में उन्हें प्रेरित करना। पूजा की विधियों का रूप रहस्यात्मक था। मंत्रों में जादुई शक्ति मानी जाती थी। पुरोहितगण वैसे जादूगर समझे जाते थे, जो अपने गूढ क्रिया-कलापों के द्वारा, मंत्रोच्चारण एवं बलियों के प्रभाव से देवताओं को वशीभूत कर इच्छित वस्तु की प्राप्ति कर सकते थे।

ऋग्वेद में कहा गया है कि पुरोहित के मंत्रोच्चारण मात्र से अग्नि की ज्वाला तीव्र हो जाती है और वहाँ देवता पहुँच जाते हैं। वाणी (वाक्) को अनादि शक्ति के रूप में माना गया है, जो देवताओं से भी ऊपर है।

वैदिक प्रार्थनाओं और यज्ञ-सम्बन्धी प्रक्रियाओं से देवताओं का यांत्रिक सम्बन्ध है। शुद्ध शुद्ध उच्चारण के साथ कर्मकांड की विधियों के अनुष्ठान से परिणाम अवश्यंभावी हैं, ऐसा अटल विश्वास था। मंत्रों की रहस्यात्मक शक्ति उनके अर्थ में नहीं, वरन उनकी ध्वनि में निहित थी। इसलिए वेदों में मंत्रों के शुद्ध उच्चारण पर अधिक बल दिया गया है। केवल प्रार्थना करना ही पर्याप्त नहीं था, प्रार्थनाओं का सही-सही उच्चारण करना भी आवश्यक था। उनमें जरा सा व्यतिक्रम हो जाने पर अनर्थ की संभावना मानी जाती थी। वस्तुत: वैदिक आर्य प्रार्थना नहीं करते थे बल्कि कामना करते थे। अपनी प्रार्थनाओं से वे देवताओं को अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए बाध्य करना चाहते थे। मंत्रों के चमत्कार से नदी को पार करने योग्य बना देना, वर्षा को अधीन करना, पहाड़ में दरार कर देना, ये सब बातें, मंत्रों द्वारा संभव मानी जाती थीं। अपने प्रभावोत्पादक मंत्रों के बल से असाध्य कार्य पूरा कर दिखाने के लिए बार-बार अंगिरा आदि ऋषियों की प्रशंसा की गई है। रहस्य-मय शक्तियों के अधिकारी होने के कारण पुरोहितगण पूज्य माने जाते थे। वे देवताओं को भी वशीभूत कर सकते थे और अपनी इच्छानुसार प्राकृतिक घटनाओं को नियंत्रित कर सकते थे।

वैदिक प्रार्थनाओं के संदर्भ में जो तथ्य हैं वे ही तथ्य समान रूप से वैदिक बलियों के लिए भी हैं। यहाँ बलि केवल पूजा की एक विधि अथवा धन्यवाद ज्ञापन की एक क्रिया मात्र नहीं है। वरन् यह शक्ति प्राप्त करने का एक साधन है। बलि अथवा यज्ञ एक संस्कार है, जहाँ हर शब्द प्रभावोत्पादक और हर क्रिया महत्त्वपूर्ण है। वह देवताओं के देवत्व में प्रवेश करने और उन्हें नियन्त्रित करने का साधन माना जाता है। ऋग्वेद में अंगिरा, भृगु आदि अग्निपुरोहितों की देवताओं के समान प्रशंसा की जाती थी और विश्वास किया जाता था कि उन्हें देवताओं पर भी अधिकार प्राप्त है। पुरोहितवंशीय अथर्व और अंगिरा बलि के प्रथम संस्थापक कहे जाते थे। अंगिरा अपनी 'प्रज्वलित अग्नि' के साथ जीवन-शक्ति के अधिकारी बने। अपनी बलि-संबंधी क्रियाओं से अथर्व ने लोगों को अपनी-अपनी ईप्सित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए आश्वस्त किया।

ऋग्वेद के नवम मंडल में ऐसे वर्णन हैं, जहाँ सोम-विधि का लक्ष्य है वर्षा का प्रादुर्भाव। इसी प्रकार यजुर्वेद में ऐसी प्रक्रियाएँ बताई गई हैं, जिनके अनुसार मनुष्य अपने अभीष्ट प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मण साहित्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बलि के फल ईश्वर की दया से नहीं, वरन् यान्त्रिक रूप से स्वतः स्वाभाविक रूप में प्राप्त किए जाते हैं। वाजसनेयी संहिता में पुरोहितों को देवताओं के नियंत्रण के लिए पर्याप्त शक्तिशाली माना गया है और तैत्तिरीय संहिता में ऐसे जादुई साधन हैं जिनसे आदित्यों को इच्छित वस्तु की प्राप्ति तक बाँधा जा सकता है। यह विश्वास की उचित विधियों से दी गई बलि उन्हें कुछ भी दिला सकती है। अपने कर्म पर ही निर्भर रहने की यह प्रवृत्ति वैदिक-धर्म की विशेषता है।

बलिदान द्वारा शक्ति प्राप्त करने वाले सिर्फ मनुष्य ही नहीं थे। देवताओं के संदर्भ में भी यह बात लागू थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि देवता सर्वशक्तिशाली प्रार्थनाओं अथवा संस्कार-संबंधी विधियों का रहस्य जानते हैं। इस प्रकार इन्द्र यज्ञों के फलस्वरूप तेजस्वी और सर्वोच्च हो गये। ब्राह्मण साहित्य में कहा गया है कि बलि देवताओं का गुण है। देवता हव्य के प्रेमी घोषित किए गए हैं। यह भी कहा गया है कि देवता यज्ञ के प्रसाद से असुरों पर विजयी हुए, अतः स्वर्ग में अमर हो गये।

इस प्रकार वैदिक धर्म की मान्यता है कि पूजा की विधियाँ पूजा के पात्र से भी श्रेष्ठ हैं और मनुष्य को देवताओं के अधीन रहने के बदले उनको अपने अधीन रखने की चेष्टा करनी चाहिए। वैदिक-धर्म ईसाई-धर्म से भिन्न है, क्योंकि इसमें आत्मसमर्पण और आत्म-त्याग की भावना का अभाव है। वैदिक धर्म का जादुई तत्त्व और वैदिक आर्यों की जीवन के सुखों को भोगने की उद्दाम लालसा देखते हुए वैदिक धर्म को आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता।

वेद का दृष्टिकोण विज्ञान के समान है जो भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अपने चारों ओर की सभी प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण करना चाहता है। वैज्ञानिकों की तरह वैदिक आर्य भी ज्ञान को सर्वोच्च शक्ति मानते हैं, क्योंकि एक मात्र ज्ञान के द्वारा ही प्रकृति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। वैज्ञानिकों की तरह वे भी आत्मविश्वासी और दृढ़निश्चयी थे। वे नियम तथा प्रकृति के ज्ञान के द्वारा अपने को सर्वोच्च शक्ति प्राप्त करने योग्य मानते थे। वे सोचते थे कि वे अपने कर्मों की सहायता से प्रकृति की शक्तियों पर विजयी हो सकेंगे।

निःसंदेह वैदिक-धर्म की इन आत्म-स्वीकारात्मक मानवतावादी और भौतिकवादी प्रवृत्तियों ने हिन्दू विज्ञानों के लिए वह आधारशिला स्थापित की, जो आगे चलकर, आर्यों के सुव्यवस्थित होने पर दृढ़ हुई। जीवन के प्रति साहसिक उत्साही दृष्टिकोण, दुर्जेय साहस द्वारा संचालित जोखिम उठाने की प्रवृत्ति तथा जीवन के सभी सुखों को जीत लेने का दृढ़ संकल्प—ये सभी विज्ञान की प्रारंभिक आवश्यकताएँ हैं। वैदिक लोगों के भौतिक दृष्टिकोण तथा उनके धर्म की व्यावहारिक प्रवृत्ति ने निश्चय ही उन्हें एक ऐसे प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए प्रोत्साहन दिया जो भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए, जीवन की समृद्धि के लिए, कार्यकलाप के निर्धारण में प्रेरक हुआ।

वैदिक चिंतक ठोस यथार्थवादी थे और उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भौतिक था।

☆

आत्मा और पुनर्जन्म

प्रो० डा० शशि भूषण प्रसाद सिंह

आत्मा और पुनर्जन्म की समस्या दर्शनशास्त्र की प्राचीन समस्या है। भारतीय दर्शन में इसका ऐतिहासिक महत्व है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह केवल भारतीय दर्शन की ही समस्या है। पाश्चात्य दर्शन में भी आत्मा सम्बन्धी विचार प्राचीन काल से ही होते रहे हैं। आत्मा सम्बन्धी विचार की उपेक्षा पाश्चात्य दर्शन में भी नहीं की गई है[1] किंतु भारतीय दर्शन में आत्मा का विचार अधिक विशद रूप में किया गया है। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में भारतीय दर्शन मुख्यतः अध्यात्मवादी है।[2] वस्तुतः, कुछ अपवादों को छोड़कर, ऐसा मानना सत्य से दूर नहीं होगा कि भारतीय दर्शन का इतिहास आत्मा के अन्वेषण का इतिहास है। इस प्रसंग में भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि अधिकांश भारतीय दार्शनिक चिंतन का श्रीगणेश अन्तर्मुखी दृष्टिकोण से हुआ है। "आत्मानं विद्धि" का आदर्श उन्हें सदैव प्रेरित करता रहा है। यही दार्शनिक दृष्टिकोण अध्यात्मवाद के विकास का मुख्य कारण प्रतीत होता है। डा० राधाकृष्णन तथा चार्ल्स ए० मूर ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—"इस प्रकार की अन्तर्मुखी अभिरुचि अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद के विकास में

---

1. "It is true that the self as a spiritual subject has not been treated as comprehensively in the West as it has in India, but the self has not been ignored by western philosophers".—from'the Quest for self-knowledge in the West and in India' by Troy Wilson Organ, Darshana, Vol. II, Number, 1 January, 1962, p. 81.

2. "Indian Philosophy, by Dr. Radhakrishnan George Allen and Unwin LTd. (vol. I page 24).

अत्यन्त ही सहायक सिद्ध होती है और फलतः अधिकांश भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में अध्यात्मवादी हो जाता है।[3]

अतः यह स्पष्टरूपेण दृष्टिगत होता है कि आत्मा-सम्बन्धी विचार दर्शन का, विशेषतया भारतीय दर्शन का, महत्वपूर्ण तथा मुख्य अंग है। यहाँ इस सम्बन्ध में आलोचनात्मक समीक्षा के एवं संक्षिप्त ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करना अनुचित या अप्रासंगिक नहीं होगा। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो, अरस्तू, संत अगस्टिन, डेकार्ट, कांट, हेगेल, ब्रैडले आदि महान् विचारकों ने अपने ढंग से आत्मा के अस्तित्व में विश्वास किया है और इस संबंध में विचार प्रस्तुत किए हैं। अरस्तू[4] आत्मज्ञान की महत्ता तथा उपादेयता को स्पष्ट ढंग से बतलाते हैं और उसे जीव और जगत् के मूल में मानते हैं। आधुनिक युग में डेकार्ट की प्रसिद्ध उक्ति है "मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ" (Cogito ergo sum)। कांट[5] ने भी आत्मज्ञान को उच्चतम स्थान देते हुए लिखा है कि आत्मज्ञान कठिन दार्शनिक समस्या है। ब्रैडले के दर्शन में भी आत्मा पर सम्यक् रूप से विचार किया गया है। महान् दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स[6] आत्मा पर विशेष रूप से विचार करते हैं और इस संबंध में आत्मा के भौतिक, सामाजिक; आध्यात्मिक पक्षों तथा शुद्ध अहं की चर्चा करते हैं। जार्ज आर्थर विलसन[7] अपने तत्वदर्शन में आत्मा को महत्वपूर्ण तथा मौलिक स्थान देते हैं। इसी तरह अन्यान्य पाश्चात्य विचारक भी आत्मा पर अपने-अपने ढंग से विचार प्रस्तुत करते हैं।

---

3. "This introspectve interest is highly conducive to idealism of course, and consequently most Indian philoshphy is idealistic in one form or another."—(A source book in Indian Philosophy, edited by Dr. Radhakrishnan and Charles A. Moore, page XXV, Princeton, New Jersey, 1957).

4. De Anima, 402 a-4-6, J. A. Smith translation.
5. Kant, Critique of Pure Reason की भूमिका।
6. William James, Principles of Psychology, Vol. I, Chap-10
7. George Arthur Wilson का कथन है :—"The great lesson that

जैसा पहले कहा जा चुका है, भारतीय दर्शन में आत्म-सम्बन्धी विचार और भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उपनिषदों में आत्मा तथा ब्रह्म-सम्बन्धी विचार का स्पष्ट वर्णन मिलता है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा अन्यान्य उपनिषदों में आत्म-सम्बन्धी विचार की महत्ता संवाद के माध्यम से बतलाई गई है। छान्दोग्य उपनिषद् का छठा अध्याय इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्व रखता है। यहाँ आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या की शिक्षा दी है। उसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का संवाद विशेष उल्लेखनीय है।

उपनिषदों के बाद प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक मतों में आत्म-संबन्धी विचार किए गए हैं। गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा की अमरता का जोरदार प्रतिवाद किया गया है।

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यन्ते हन्यमाने शरीरे॥"[८]

उपनिषद् और गीता के बाद चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी आस्तिक तथा नास्तिक भारतीय दर्शन आत्मवाद का प्रतिपादन करते हैं। बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में कतिपय विद्वान् ऐसा मानते हैं कि यह आत्मा के आस्तित्व को अस्वीकार करता है और फलस्वरूप अनात्मवादी दर्शन है। लेकिन यदि बौद्ध-दर्शन पर सम्पूर्णता से विचार किया जाय तो ऐसा लगता है कि यद्यपि वह आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करता है, फिर भी नैतिक कर्त्ता, भोक्ता आदि के रूप में आत्मा के अस्तित्व को मानता ही है। धम्मपद में भी आत्मा की महत्ता पर इस तरह प्रकाश डाला गया है—

आत्मा स्यादात्मनो नाथः
को हि नाथः परो भवेत्।

---

the History of philosophy teaches with the emphasis of repetition the fragmentary character of all world views that ignore the central position of the Self." (The Self and its world, p. 275, by G. A. Wilson, The Macmillan Company, New York, 1926).

८. गीता—२।२०।

९. धम्मपद—१२।४ (आत्मवर्ग)।

जैन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा-वेदान्त तो निर्विवाद रूप से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यह बात दूसरी है कि आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में इन भारतीय दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कुछ आत्मा सम्बन्धी विचार दार्शनिक दृष्टिकोण से अविकसित प्रतीत होते हैं तो कुछ अपेक्षाकृत अधिक विकसित। कुछ भारतीय दार्शनिक चेतना को आत्मा या पुरुष का स्वरूप मानते हैं तो इसके विपरीत कुछ लोग चेतना को आत्मा के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य नहीं बतलाते हैं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन के लिए चेतना आत्मा का आवश्यक गुण नहीं है। लेकिन इसके विपरीत सांख्य, जैन, योग, वेदान्त इसे आवश्यक समझते हैं। जैन दर्शन तो स्पष्ट रूप से बतलाता है "चेतनालक्षणो जीवः"। उसी तरह सांख्यकारिका में भी पुरुष को चेतन-स्वरूप और दृष्ट माना गया है। वेदान्त में तो आत्मा को सत्-चित्-आनन्द माना जाता है। समकालीन भारतीय विचारक जैसे प्रो० के० सी० भट्टाचार्य, विवेकानन्द, अरविन्द, राधाकृष्णन आदि वेदान्त-दर्शन से बहुत प्रभावित हैं। उनके दार्शनिक मतों को "नव्य वेदान्तवाद" (Neo Vedantism) कहा जा सकता है।

ऊपर संक्षेप में आत्मा-सम्बन्धी समस्या के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार किया गया। अब पुनर्जन्म-सम्बन्धी समस्या का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है। पुनर्जन्म की समस्या आत्मा की समस्या पर ही आधारित है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जो आत्मा के अस्तित्व तथा उसकी अमरता में विश्वास करता है उसी के लिए पुनर्जन्म-सम्बन्धी विचार की सार्थकता है। क्योंकि जब अध्यात्मवाद, या यों कहें कि आत्मा के अस्तित्व और उसकी अमरता में विश्वास नहीं किया जायगा तब फिर पुनर्जन्म किसका होगा? पुनर्जन्मवादियों का तो यही विश्वास है कि आत्मा अमर है, शरीर नाशवान् होता है; आत्मा एक शरीर को छोड़कर अपने कर्म के अनुसार दूसरे शरीर को धारण करता है। अर्थात् प्राचीन काल से ही भारतीय चिन्तक पुनर्जन्म में विश्वास करते आ रहे हैं। ऐसी कल्पना की गई है कि मोक्ष-प्राप्ति तक आत्मा पुनर्जन्म के चक्र में रहती है। पुनर्जन्म का सिद्धांत एक ओर तो आत्मा के अस्तित्व और अमरता के विचार से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, और दूसरी ओर कर्म और कारण-कार्य के सिद्धांत से भी। कर्मवाद तथा नैतिक कारण-कार्य नियम के अनुसार आत्मा को अपने पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार दूसरा

अनुरूप शरीर धारण करना पड़ता है। बतलाया जाता है कि पूर्वजन्म के कर्म के कारण लिंग शरीर नया स्थूल शरीर प्राप्त करता है। संस्कार सहित सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर को त्याग करके दूसरे स्थूल शरीर को ग्रहण करता है। गीता तो स्पष्ट ढंग से कहती है :—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।"

जो प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय विचारक, आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी विश्वास करते हैं। जैन दर्शन में भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मो की चर्चा की गई है और उसके साथ अनेक योनियों तथा गतियों का उल्लेख किया गया है, फलतः वहाँ पुनर्जन्म का विचार अधिक स्पष्टरूप से दृष्टिगत होता है। उसी तरह बौद्ध दर्शन के द्वादश निदान (भवचक्र) में भूत, वर्त्तमान और भविष्य जीवनों की कल्पना स्पष्ट रूप से विद्यमान है। अन्यान्य प्राचीन भारतीय मतों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त अपने अपने ढंग से प्रतिपादित किया गया है। समकालीन भारतीय विचारक भी प्राचीन नैतिक आदर्शवाद (ethical idealism) से बहुत दूर तक प्रेरित प्रतीत होते हैं, अतः उनकी भी पूर्ण आस्था पुनर्जन्म के विश्वास में दृष्टिगत होती है। महान् विचारक योगी अरविंद[11] का कहना है कि कर्मवाद को मान लेने पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करना आवश्यक प्रतीत होता है।

आज विज्ञान प्रगति के शिखर पर पहुँचता हुआ प्रतीत होता है और कुछ विचारक इससे प्रभावित होकर ऐसा समझने लगे हैं कि विज्ञान की प्रगति और विकास से आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धांत को आघात पहुँच रहा है।

आधुनिक विज्ञान से विशेष रूप से प्रभावित होकर विएना के कुछ दार्शनिकों ने (Logical Positivism) तार्किक भाववाद को जन्म दिया और बाद में इस विचारधारा का प्रभाव विश्व के दूसरे भागों पर भी पड़ा। कारनप, वीटगेंसटाईन, ए० जे० ऐयर आदि विचारकों ने अपने-अपने ढंग से स्पष्ट तथा सबल रूप से अर्थ के प्रमाणीकरण सिद्धान्त (Verificational theory of

१२ गीता—२।२२।

11. Sri Aurobindo. The Problem of Rebirth, p. 116.

meaning) का प्रतिपादन किया। वस्तुत:, यह सिद्धान्त इनके दार्शनिक मत की नींव प्रतीत होता है। यहाँ इन सब का विस्तारपूर्वक वर्णन करना संभव नहीं है। केवल इसी बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन लोगों ने भी अरस्तू और कांट की तरह दो तरह के वाक्यों का भेद किया (क) शाब्दिक या विश्लेषणात्मक (ख) वास्तविक या आनुभविक। तर्कशास्त्र, गणित आदि में प्रथम कोटि के वाक्य दृष्टिगत होते हैं, इसके विपरीत अन्यान्य विज्ञानों में, जिनका सम्बन्ध अनुभव से रहता है, दूसरी कोटि के वाक्य पाए जाते हैं। तार्किक भाववादियों के अनुसार दूसरी कोटि के वाक्य तभी सार्थक होते हैं। जब वे या तो सिद्धान्त में या व्यवहार में परीक्षणीय होते हैं। इस लघु निबंध में इस महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी सिद्धान्त के सम्बन्ध में अधिक विवेचन की गुंजाइश नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस वर्ग के विचारक अपने प्रमाणीकरण सिद्धान्त के आधार पर तत्वमीमांसा आदि का खंडन करते हैं और बतलाते हैं कि तत्वमीमांसा का सम्बन्ध पारमार्थिक सत्ता से रहता है जो इन्द्रियानुभूति के परे होती है। फलत: उनके अनुसार तत्वमीमांसा-संबंधी वाक्य ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से सार्थक नहीं माने जा सकते हैं। यहाँ इन सब की विस्तारपूर्वक चर्चा संभव नहीं है और न इसकी आवश्यकता हो है। इस प्रसंग में इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि आत्मा, जिसको भारतीय दर्शन और दूसरे दर्शनों में अमूर्त्त सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है, परीक्षण सिद्धान्त के आधार पर सार्थक नहीं माना जा सकता है क्योंकि जिस अर्थ में "चन्द्रमा के ऊपर पर्वत है" परीक्षणीय है, उस अर्थ में आत्मा परीक्षणीय नहीं है। यहाँ ऐयर के विचार को संक्षेप में उद्धृत करना वांछनीय प्रतीत होता है। वह संशयवादी ह्यूम से प्रभावित हैं और कहते हैं कि आत्मा नामक तत्वमीमांसीयसत्ता के सम्बन्ध में कोई भी यथार्थ कल्पना नहीं की जा सकती है।[१२] यहाँ इस बात की चर्चा करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐयर व्यक्तिगत तादात्म्य आदि की व्याख्या शारीरिक समानता तथा इन्द्रिय-जन्य अनुभूति की अनवरतता के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। यहाँ जॉन होसपर्स की चर्चा भी

(This metaphysical entity (soul), concerning which no genuine hypothesis can be formulated, has no logical connection whatsoever with the self)

१२. Language, Truth and Logic, P. 127, By A.J. Ayer (Victor Gollancz Ltd., London, 1960).

अप्रासंगिक नहीं होगी। वे भी भाववादी तथा विश्लेषणात्मक पद्धति के आधार पर आत्मा को स्वतंत्र आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में स्वीकार करना अनुचित मानते हैं।[१३]

इस तरह यह दृष्टिगत होता है कि वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव दर्शन के क्षेत्र में तार्किक भाववादी सिद्धान्त के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है और उसके परीक्षणवादी सिद्धान्त के आधार पर आत्मा का कोई स्थान नहीं रह जाता है। जीवशास्त्री तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी आधुनिक काल में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। डार्विन आदि के विकासवादी सिद्धान्त के द्वारा तथा मनोविज्ञान के व्यवहारवाद (Behaviuorism) तथा मनोविश्लेषण (Psycho Analysis) के सिद्धान्तों ने भी आत्मा के अस्तित्व और उसकी अमरता पर आघात पहुँचाने का पूरा प्रयास किया है। व्यक्तित्व के विकास में जीवशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक वंशानुक्रम तथा वातावरण को ही स्थान देने का प्रयास करते हैं, फलतः कर्म और पुनर्जन्म की महत्ता घटती हुई प्रतीत होती है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त जब अब हम आत्मा और पुनर्जन्म के विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं तो इस प्रसंग में निम्नलिखित बातें विचारणीय प्रतीत होती हैं।

पहली बात जो उल्लेखनीय है वह यह है कि दर्शन और विज्ञान को विरोधी मानना उचित नहीं है। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। यह ठीक है कि विज्ञान की प्रगति आधुनिक काल में काफी हुई है—दिक्, काल आदि पर विजय प्राप्त करने की सफल चेष्टाएँ हुई हैं। परमाणुयुग में विज्ञान के बहुत से वरदान हमें प्राप्त हुए हैं। इसलिए विज्ञान के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। लेकिन इस आधार पर अध्यात्मवाद, धर्म तथा नैतिक मूल्यों की उपेक्षा मानव समाज के लिए घातक सिद्ध होगी। आत्मा तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त आज भी नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टियों से महत्व रखता है। लेकिन दर्शन, धर्म तथा विज्ञान के पृथक् क्षेत्र होते हैं। उनकी अध्ययन-पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती है। निरीक्षण, इन्द्रियानुभूति तथा परीक्षण की पद्धति

---

१३. An Introduction to Philosophical analysis, pp. 310-11, by John Hospers (Routledge & Kegan Paul Ltd, London, 1959.)

विज्ञान के लिए भले ही उपयुक्त और पर्याप्त हो, लेकिन सभी पद्धतियों की सीमाएं होती हैं। सीमित क्षेत्र में ही इनका औचित्य तथा उपादेयता है। यह मान लेना कि विज्ञान दर्शन और धर्म के लिए एक ही विधि उपयुक्त है, उनके प्रति अन्याय करना होगा। दर्शन और धर्म का क्षेत्र तो अपेक्षाकृत व्यापक होता है, वे केवल प्रत्यक्ष तक अपने को सीमित नहीं रखते हैं। तत्वमीमांसा तो अतिक्रान्त तथा अतीन्द्रिय सत्ता का विचार करती है। स्टेस, जोड, कोपलस्टन[१४] आदि ने तार्किक भाववादी के परीक्षणवादी सिद्धान्त को ठीक ही संकीर्ण बताया है, क्योंकि वह 'अर्थ' (Meannig) को संकुचित अर्थ में लेता है और अनुभूति को भी सीमित अर्थ में स्वीकार करता है, क्योंकि अनुभूति केवल इन्द्रियजन्य ही नहीं होती है। इसके अतिरिक्त उसकी और भी सीमाएं दृष्टिगत होती हैं। प्रमाणीकरण सिद्धान्त के आधार पर सामान्य वाक्य, (Universal Proposition) और अतीत-सम्बन्धी कथन (Statsement relating to the past) आदि की भी सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस तरह स्पष्ट है कि विज्ञान से प्रभावित होकर तार्किक भाववादियों के द्वारा आत्मा, पुनर्जन्म का खंडन करना न्यायपूर्ण तथा युक्तिसंगत नहीं है। फिर जीवशास्त्र और मनोविज्ञान के सिद्धान्त भी पूर्णरूपेण संतोषजनक नहीं समझे जा सकते हैं। प्रसिद्ध जीवशास्त्री डार्विन स्वयं अपनी सीमा से अवगत प्रतीत होते हैं, तभी तो वे स्पष्टरूपेण स्वीकार करते हैं कि जबतक वे प्रथम जीवकोष के अस्तित्व की कल्पना को नहीं स्वीकार करते हैं, तबतक उनके लिए जीव के क्रमिक विकास की व्याख्या प्रस्तुत करना कठिन हो जाता है। इतना ही नहीं, दूसरे महान् वैज्ञानिक (आइंसटाइन आदि) भी अपने ढंग से आत्मा, ईश्वर आदि के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और वे निश्चय ही विज्ञान की सीमा से पूर्णरूपेण परिचित हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी, व्यवहारवाद तथा मनोविश्लेपण की एकांगिता को स्वयं मनोवैज्ञानिकों ने ही स्वीकार किया है। फ्रायड, वाटसन आदि के विचारों की त्रुटियों पर स्वयं दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने ही

14— (a) Metaphysics and Meaning (Mind, Vol. XLI, No. 176, 1935) by W.T. Stace.

(b) A critique of logical positivism by C. E. M. Joad (Victor Gollancz Ltd, 1950).

(c) A note on verification by Copleston (Mind, 59), 1950.

प्रकाश डाला है। यूंग, जेम्स आदि का नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। पुनः यह विचारणीय है कि व्यक्तिगत भिन्नता की व्यवस्था जितने संतोषप्रद ढंग से कर्म के सिद्धान्त द्वारा किया जा सकता है, उतना वंशानुक्रम तथा वातावरण के आधार पर नहीं। एक ही माँ-बाप के दो पुत्र समान वातावरण में रहने पर भी भिन्न प्रकृति के होते हैं—इसका कारण उनके पुनर्जन्म का संस्कार हो सकता है। पुनर्जन्म की धारणा की पुष्टि परामनोवैज्ञानिक शोधों से भी समर्थित दीख पड़ती है। देश और विदेश में इस तरह के अनेक दृष्टान्त पाये गये हैं जिनमें बच्चे या बच्चियाँ अपने पुनर्जन्म की बातों को बतलाते हैं और उनकी बहुत सारी बातें सही निकली है। लेकिन उन्हें विश्वसनीय तथा वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए व्यवस्थित ढंग से व्यापक पैमाने पर इस क्षेत्र में शोध तथा अध्ययन करने की आवश्यकता है।

इस प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय है। ऐसा मानना भ्रान्तिमूलक है कि केवल आज के, वैज्ञानिक प्रगति के, युग में ही आत्मा और पुनर्जन्म आदि धारणाओं का खंडन किया जाता है। ऐसी बात नहीं है कि भौतिक विचारधारा केवल आधुनिक या समकालीन विशेषता है। हो सकता है, आज भौतिकवाद तथा यन्त्रवाद अधिक आकर्षक लगते हों, लेकिन दर्शन का इतिहास इसका साक्षी है कि प्राचीन काल में भी संशयवादी तथा भौतिकवादी विचारक थे। भारतीय दर्शन को ही देखें। चार्वाक का नाम विश्वविश्रुत है। उन्हें 'नास्तिक शिरोमणि' कहा गया है। उन्होंने अपने भाववादी तथा प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा के आधार पर स्पष्ट ढंग से आत्मा, पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है। फिर भी, उनके बाद भी अध्यात्मवाद की महत्ता अक्षुण्ण बनी रही। उसका कारण स्पष्ट था। लोग भौतिकवाद की एकांगिता तथा सीमा से परिचित हो गये थे। जिस तरह प्राचीन काल में संशयवाद तथा अज्ञेयवाद अध्यात्मवाद को पूर्णरूपेण निराकरण में असफल रहे, उसी तरह अर्वाचीन वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप विकसित भौतिकवादी तथा अज्ञेयवाद भी अध्यात्मवाद को विस्थापित करने में असफल रहेंगे। डार्विन और स्पेंसर को अपने विकासवाद और विज्ञान की सीमाओं को समझना पड़ा। ल्याड मोरगन, ह्वाइटहेड आधुनिक युग में प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुए हैं। उन लोगों को भी देवी और आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास करना पड़ा। मोरगन तो स्पष्टरूपेण "नीसस" या ईश्वर को अपने विकासवादी विचार का आधार मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर दो बातें स्पष्टरूपेण, निष्कर्ष के रूप में, उपस्थित की जा सकती हैं। पहली बात यह है कि विज्ञान, धर्म और दर्शन में विरोध बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। इन सबों के क्षेत्र, तथा पद्धतियाँ अलग-अलग हैं। अतः एक का विषय तथा पद्धति दूसरे का विषय और पद्धति नहीं हो सकते हैं। एक का मानदंड दूसरे के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता है। इसलिए आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त और उसपर आधारित पुनर्जन्म-सम्बन्धी विचार की समीक्षा वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर नहीं जा सकती है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि भीषण वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद आत्मा, पुनर्जन्म आदि का सिद्धान्त आज के मानव के लिए भी वही नैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक एवं दार्शनिक महत्ता तथा उपादेयता रखता है जो प्राचीन अथवा मध्ययुगीन मानव के लिए रखता था।

दूसरी बात यह है कि हमें आज वैज्ञानिक प्रगति के युग में धर्म और दर्शन के महत्व को और भी अधिक स्वीकार करना होगा। आज का विश्व अशान्त दीख पड़ता है। भौतिक प्रगति के बावजूद सर्वत्र अशान्ति अविश्वास आदि का आधिपत्य दृष्टिगत होता है। व्यक्ति, राष्ट्र तथा पूरे विश्व के कल्याण के दृष्टिकोण से आज शायद पहले की अपेक्षा अधिक दार्शनिक चिंतन की आवश्यकता है। अंधविश्वास तथा ढकोसलों से मुक्त कर धर्म के वास्तविक रूप को संसार के सम्मुख उपस्थित करना दार्शनिकों[१५] का कर्त्तव्य है।

✶

१५. The experiments of nuclear explosion have affected the health of the present generation and the future generations as well. Philosophy should, therefore, occupy a pre-eminent place in this nuclear age.

Sri K. Bala Subramania Aiyar. "Future of Philosophical Studies in India," (*Bhavan's Journal*, Vol. XI, No. 17, March 14, 1964. P. 39.)

मृत्यु के पश्चात्

(प्रो० डा० विश्वनाथ सिंह)

मृत्यु क्या है ?—आज का युग विज्ञान का युग है । आज प्रत्येक घटना वैज्ञानिक तुला पर तोली जाती है । लेकिन विज्ञान की भी सीमाएँ हैं । वह मानव जीवन की अन्तस्तम गहराइयों तक पहुँच नहीं पाता । अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (Extrasensory Perception) भविष्यकथन, परकाया-प्रवेश, पुनर्जन्म आदि ऐसे विषय हैं जहाँ विज्ञान का प्रकाश पूर्ण रूप से अभी नहीं पहुँच पाया है । राजस्थान विश्वविद्यालय का परामनोविद्या-विभाग एवं इंगलैण्ड तथा अमेरिका की परामनोविद्या शोध-समिति (Society for Psychical Research) जैसी वैज्ञानिक संस्थाएँ इन विषयों का अध्ययन करती जाती हैं; लेकिन इनकी उपलब्धियाँ अभी वैज्ञानिक स्तर पर नहीं हो पायी हैं । फिर भी ये संस्थाएँ पुनर्जन्म की सहस्रों कहानियाँ, दूर दर्शन के अनेक उदाहरण, अनेक जन्मों की स्मृतियों के दृष्टान्त, बचपन में ही अनेक भाषाओं के ज्ञान का उदाहरण उपस्थित कर हमें बाध्य कर देती हैं कि हम उन पर गहराई से विचार करें ।

आज वैज्ञानिक दृष्टि से भी मूल तत्त्व को अविनाशी माना जाता है । शक्ति-संरक्षण (Law of conservation of Energy) का सिद्धान्त है कि शक्ति का क्षय कभी नहीं होता । जो अति सूक्ष्म है और निरवयव है, उसका विनाश कैसे होगा ? जिसे हम विनाश कहते हैं, वह वस्तुतः रूप-परिवर्तन (Tranformation) मात्र है । आत्मा भी सूक्ष्म होने के कारण अनश्वर है । जीव और आत्मा में अन्तर है । शुद्ध आत्मा को जीव नहीं कहते । जीव एक ऐसा तत्त्व है जो न पूर्णतः प्रकृति है और न पूर्णतः आत्मा है । यह दोनों का मिश्रण है । आत्मा प्रकृति के साथ अपने को आबद्ध समझने लगती है तो वह जीव बन जाती है । आत्मा प्रकृति को प्रकाशित करती है, यद्यपि प्रकृति के गुणों एवं धर्मों से वह भिन्न है । जिस प्रकार चित्र-पट पर प्रतीत होने वाले दृश्यों से चित्र-पट भिन्न है, तथापि उसके बिना दृश्यों की प्रतीति नहीं होती । इसीलिए दोनों में तादात्म्य का आभास होता है । इसी प्रकार आत्मा भी

कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर के धर्मो को अपने धर्म समझने लगती है। लेकिन मृत्यु आत्मा की नहीं होती, देह की होती है।

मृत्यु क्यों होती है ?—स्वामी अरविन्द ने कहा था "मृत्यु इसलिए होती है कि देही ने अब तक इतनी प्रगति नहीं की कि बिना परिवर्तन की आवश्यकता के एक ही शरीर में प्रवृद्ध होता चला जाय और शरीर स्वयं भी काफी सचेतन नहीं हुआ है। यदि मन, प्राण तथा स्वयं शरीर अधिक सचेतन हो तो मृत्यु की आवश्यकता नहीं रहेगी।……बिना अतिमानसीकरण के (अतिमानस द्वारा रूपान्तर के) शरीर का अमरत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यौगिक शक्ति के भीतर क्षमता है तथा योगी २०० या ३०० या इससे भी अधिक वर्ष जी सकते है; किन्तु अतिमानस के बिना अमरत्व के वास्तविक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती………… भौतिक विज्ञान तक भी यह आशा करता है कि एक दिन मृत्यु पर विजय प्राप्त होगी। तो कोई कारण नहीं कि अतिमानस शक्ति इसे नहीं कर सके।"

यह स्पष्ट है कि मृत्यु देह की होती है। मृत्यु का साधारण अर्थ लेते हुए हम आगे बढ़ेंगे। जीव् (प्राण धारणे) से जीवन और 'मृ' (प्राण त्यागे) से 'मृत्यु' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। प्राण-धारण और प्राण-त्याग विपरीतार्थक शब्द है। नासिका द्वारा जबतक प्राण-वायु का संचार होता है, तबतक 'जीवन' एवं जब प्राण-वायु का आना जाना बन्द हो जाता है तो 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग होता है। जब प्राण-वायु का सम्बन्ध शरीर से हट जाता है तब सम्पूर्ण इन्द्रियों के रहते हुए भी शरीर मृत कहलाता है। अतः छान्दोग्य उपनिषद् में प्राण-वायु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

"यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च हवै श्रेष्ठश्च भवति।
प्राणी वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च"। (छा० उ० ५।१।१)

प्राण वायु—अब प्रश्न है कि प्राण-वायु का संचालन क्यों बन्द होता है ? प्राण-वायु क्या है और कहाँ चला जाता है ? इसका उत्तर है कि प्राण-वायु का सहचारी जीव है। जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है। कहा गया है—

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥
(पंचदशी-द्वैत—११)

अर्थात्, लिंग-शरीर का आधारभूत चैतन्य अधिष्ठान और उसमें पड़ा हुआ चिदाभास जीव कहलाता है। लिंग-शरीर पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन एवं बुद्धि-तत्त्व से बनता है। यही सत्रह तत्त्वों वाला जीव कर्मानुसार शरीर-परिवर्तन करता रहता है। इस प्रकार अधिष्ठान-चैतन्य, लिंग-देह और चिदाभास की मृत्यु नहीं होती।

अमरता के वैज्ञानिक प्रमाण :—'इन्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट फॉर साइकिकल रिसर्च' के संस्थापक और साइकिकल लीग के अध्यक्ष श्री शा डेसमण्ड ने मृत्यूत्तर जीवन का वर्णन अपनी पुस्तक "हाउ यू लिभ व्हेन यू डाइ" (मृत्यु के वाद आप कैसे रहते हैं) में किया है।

मृत्यु का अनुभव :—शा डेसमण्ड साहब के एक मित्र थे। उनका नाम था जॉन ब्लेक और वे नाटककार थे। ब्लेक साहब परलोक और पुर्नजन्म में विश्वास नहीं करते थे। एक दिन लंडन के किसी क्लब में अचानक उनकी मृत्यु हो गई। ब्लेक साहब का मृत शरीर बिस्तर पर पड़ा है। उनकी पत्नी बगल में रो रही है, विलाप कर रही है। ब्लेक को आश्चर्य हो रहा था कि क्या तमाशा हो रहा है। वे पत्नी से कहते है, "मैं तो बिलकुल ठीक हूँ। डार्लिंग, तुम रो क्यों रही हो।"

पत्नी उनकी बातें सुन ही नहीं पाती हैं। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहते है, लेकिन उनकी बात कोई नहीं सुन पाता। वे देखते है कि वह चल फिर भी सकते हैं। इसलिए शव के पास से वह उठ जाते हैं। पत्नी के पास जाते है। उसे स्पर्श करते हैं। लेकिन स्पर्श करते समय वह देखते हैं कि उनके हाथ पत्नी के आर-पार हो जाते हैं। उनके स्पर्श की अनुभूति पत्नी को बिलकुल नहीं होती। पत्नी उसे देख भी नहीं पाती। ब्लेक को समझ में नहीं आता कि उन्हें क्या हो गया है। तब उन्हें एकाएक खयाल आता है कि क्या हो गया है उन्हें। और तब समझते हैं, कि वह सचमुच मर गये है।

कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर के धर्मो को अपने धर्म समझने लगती है। लेकिन मृत्यु आत्मा की नहीं होती, देह की होती है।

मृत्यु क्यों होती है ?—स्वामी अरविन्द ने कहा था "मृत्यु इसलिए होती है कि देही ने अब तक इतनी प्रगति नहीं की कि विना परिवर्तन की आवश्यकता के एक ही शरीर में प्रवृद्ध होता चला जाय और शरीर स्वयं भी काफी सचेतन नहीं हुआ है। यदि मन, प्राण तथा स्वयं शरीर अधिक सचेतन हो तो मृत्यु की आवश्यकता नहीं रहेगी।......बिना अतिमानसीकरण के (अतिमानस द्वारा रूपान्तर के) शरीर का अमरत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यौगिक शक्ति के भीतर क्षमता है तथा योगी २०० या ३०० या इससे भी अधिक वर्ष जी सकते है; किन्तु अतिमानस के बिना अमरत्व के वास्तविक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती.......... भौतिक विज्ञान तक भी यह आशा करता है कि एक दिन मृत्यु पर विजय प्राप्त होगी। तो कोई कारण नहीं कि अतिमानस शक्ति इसे नहीं कर सके।"

यह स्पष्ट है कि मृत्यु देह की होती है। मृत्यु का साधारण अर्थ लेते हुए हम आगे बढ़ेंगे। जीव् (प्राण धारणे) से जीवन और 'मृ' (प्राण त्यागे) से 'मृत्यु' शब्द की व्युत्पति होती है। प्राण-धारण और प्राण-त्याग विपरीतार्थक शब्द है। नासिका द्वारा जबतक प्राण-वायु का संचार होता है, तबतक 'जीवन' एवं जब प्राण-वायु का आना जाना बन्द हो जाता है तो 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग होता है। जब प्राण-वायु का सम्बन्ध शरीर से हट जाता है तब सम्पूर्ण इन्द्रियों के रहते हुए भी शरीर मृत कहलाता है। अतः छान्दोग्य उपनिषद् में प्राण-वायु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

"यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च हवै श्रेष्ठश्च भवति।
प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च"। (छा० उ० ५।१।१)

प्राण वायु—अब प्रश्न है कि प्राण-वायु का संचालन क्यों बन्द होता है ? प्राण-वायु क्या है और कहाँ चला जाता है ? इसका उत्तर है कि प्राण-वायु का सहचारी जीव है। जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है। कहा गया है—

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥
(पंचदशी-द्वैत—११)

अर्थात्, लिंग-शरीर का आधारभूत चैतन्य अधिष्ठान और उसमें पड़ा हुआ चिदाभास जीव कहलाता है। लिंग-शरीर पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन एवं बुद्धि-तत्त्व से बनता है। यही सत्रह तत्त्वों वाला जीव कर्मानुसार शरीर-परिवर्तन करता रहता है। इस प्रकार अधिष्ठान-चैतन्य, लिंग-देह और चिदाभास की मृत्यु नहीं होती।

अमरता के वैज्ञानिक प्रमाण :—'इन्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट फॉर साइकिकल रिसर्च' के संस्थापक और साइकिकल लीग के अध्यक्ष श्री शा डेसमण्ड ने मृत्यूत्तर जीवन का वर्णन अपनी पुस्तक "हाउ यू लिभ व्हेन यू डाइ" (मृत्यु के बाद आप कैसे रहते हैं) में किया है।

मृत्यु का अनुभव :—शा डेसमण्ड साहब के एक मित्र थे। उनका नाम था जॉन ब्लेक और वे नाटककार थे। ब्लेक साहब परलोक और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते थे। एक दिन लंडन के किसी क्लब में अचानक उनकी मृत्यु हो गई। ब्लेक साहब का मृत शरीर बिस्तर पर पड़ा है। उनकी पत्नी बगल में रो रही है, विलाप कर रही है। ब्लेक को आश्चर्य हो रहा था कि क्या तमाशा हो रहा है। वे पत्नी से कहते है, "मैं तो बिलकुल ठीक हूँ। डार्लिंग, तुम रो क्यों रही हो।"

पत्नी उनकी बातें सुन ही नहीं पाती हैं। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहते है, लेकिन उनकी बात कोई नहीं सुन पाता। वे देखते है कि वह चल फिर भी सकते है। इसलिए शव के पास से वह उठ जाते हैं। पत्नी के पास जाते है। उसे स्पर्श करते हैं। लेकिन स्पर्श करते समय वह देखते हैं कि उनके हाथ पत्नी के आर-पार हो जाते हैं। उनके स्पर्श की अनुभूति पत्नी को बिलकुल नहीं होती। पत्नी उसे देख भी नहीं पातीं। ब्लेक को समझ में नहीं आता कि उन्हें क्या हो गया है। तब उन्हें एकाएक खयाल आता है कि क्या हो गया है उन्हें। और तब समझते हैं, कि वह सचमुच मर गये है।

यहाँ एक शंका हो सकती है, कि सूक्ष्म शरीर या लिंग-शरीर को स्थूल शरीर धारण करना क्यों आवश्यक है? कर्म क्या सूक्ष्म शरीर के द्वारा नहीं भोगा जा सकता? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं भोगा जा सकता। कारण यह है कि लिंग-शरीर सूक्ष्म शरीर तो ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति का समूह है। मन, बुद्धि एवं कर्मेन्द्रिय को 'ज्ञान-शक्ति' कहते हैं तथा कर्मेन्द्रिय एवं पंच प्राण

उसके भाई लोगों को बुलाया गया तो उसने तत्काल उन्हें पहचान लिया। उसकी बातें सुनकर भजन सिंह की विधवा पत्नी और भावज उस बच्चे से मिलने गईं। लोगों ने इस बच्चे से पूछा कि "क्या तुम अपनी पूर्वजन्म की माँ को पहचानते हो?" उसने उन दोनों औरतों को देखते ही बतला दिया कि इनमें मेरी माँ नहीं हैं। यह तो मेरी पत्नी एवं भावज हैं। भजन सिंह की विधवा पत्नी ने कहा कि कुछ ऐसा प्रसंग सुनाओ जिससे मुझे विश्वास हो कि तुम मेरे पति थे, तो उसने बहुत सारी गोपनीय घटनाएँ सुनाईं जो केवल पति-पत्नी के बीच में ही होती है। साथ ही उसने यह भी कहा कि जब मैं इन्टरमीडियट में पढ़ता था तो एक दिन तुमने माँ से झगड़ा किया था। इसपर मैंने तुम्हें मथानी से पीटा था, मथानी टूट गई थी और तुम्हारी बाँह में घाव हो गया था। बच्चे की बातें सुनकर भजन सिंह की विधवा पत्नी बच्चे को साथ ले जाने की सोचने लगीं।

पुनर्जन्म पर पाश्चात्य विचार :—इस दिशा में इंगलैण्ड की "सोसाइटी फॉर साइकिलॉजिकल रिसर्च" ने भी काफी काम किया है। यह मानसिक शोध-संस्थान बर्मिंघम विश्वविद्यालय के प्राचार्य सर ओलियर लॉज के द्वारा सन् १८८५ में स्थापित हुआ। इसकी शाखा अमेरिका में भी है। यह संस्थान अपनी रिपोर्टों में अनेक पुनर्जन्म की घटनाओं का वर्णन करता है। इंगलैंड के प्राध्यापक मायर्स और अमेरिका के डाक्टर हजसन ने अपने मित्रों की मृत्यु के बाद पुनः उनके पास आने का वचन दिया था। मायर्स अपनी मृत्यु के एक महीने के बाद मित्र के यहाँ आये एवं बातें की। हजसन ने मरने के ठीक एक सप्ताह बाद आकर अपने वचन को पूरा दिया। विलियम जेम्स ने भी यही किया। १९१३ के सितम्बर महीने में ब्रिटिश एसोसियेशन के अध्यक्षीय भाषण में सर ओलिवर लॉज ने प्रमाणित किया था कि शारीरिक मरण के बाद भी व्यक्तित्व (Personlity) का अस्तित्व रहता है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध के पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अपनी पद्धति से विचार किया है।

डा० मायर्स, अल्फ्रेड वालेस, विलियम क्रुक्स, गर्णे प्रो० अक्साकॉफ, फ्रेंक पोडमोर एवं रिचर्ड हौजसन आदि इस क्षेत्र में अपनी प्रामाणिकता के लिए विख्यात थे। इनलोगों ने भी आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म को प्रमाणित

किया है। प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक अल्फ्रेड वालेस ने यहाँ तक कह दिया कि "प्रेत-तत्त्व को प्रमाणित करने के लिए और अधिक साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान में किसी भी मान्य तथ्य के समर्थन में इससे अधिक सबूत नहीं मिलते।" डा० हजसन ने तो आवेशपूर्ण शब्दों में यहाँ तक कह डाला—"आज जो भी प्रेत-तत्त्व को अस्वीकार करता है, वह नास्तिक नहीं, मूर्ख है।" इसी प्रकार फ्लाभारियन, स्टेड एवं प्रो० टिस्लय ने माना कि "मृत आत्माएँ हमसे सम्पर्क स्थापित कर सकती हैं।" सर क्रुक्स एवं वी० भी० श्रेनेक नौटजिंग (B. V. Schrenck Notging) ने छायाचित्र खींचने के कैमरे से मृत आत्माओं के चित्र भी खींचे। ये चित्र श्रेनेक की पुस्तक "फेनोमेनन ऑफ मैटिरिलाइजिंग" में देखे जा सकते हैं। इस तरह के चित्र स्वामी अभेदानन्द की पुस्तक "लाइफ बियोण्ड डेथ" में भी मिलते हैं। स्वामी अभेदानन्द ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि उन्होंने अमेरिका में मृत आत्माओं को आवाहन करने वाली अनेक तिपाइयों (Planchets) का परीक्षण किया है। इंगलैंड, अमेरिका तथा जर्मनी में मृत-आत्माओं की बैठकें आयोजित की जाती हैं। इन तिपाइयों पर मृतात्माओं को बुलाकर उनसे बातचीत की जाती है। ऐसे अनेक विद्वान् हैं, जो मृतात्माओं को बुलाकर बातचीत करते हैं और उसका विवरण अखबारों में छपवाते हैं। उनके अनुसार "भोगासक्त आत्मा को मरने के बाद कष्ट होता है।........हमारे लिए जो ५०० वर्ष है, उनके लिए वे ५ सेकेंड हो सकते हैं। उनके शरीरों का आकार सूक्ष्म रहता है। पाश्चात्य विद्वान् उसे एक्टोप्लाज्म (Ecotoplasm) कहते हैं। एक शरीर का भार साधारणतया १-२ या ३-४ औंस रहता है। संवेदनशील फोटोग्राफी की मदद से उन शरीरों के चित्र भी लिए गए हैं।" डा० क्रुकाल ने हजारों घटनाओं का निरीक्षण कर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि "प्रत्येक प्राणी के अन्दर सूक्ष्म शरीर होता है, जो कुछ अवसरों पर विशेषतः मृत्यु के अवसर पर पांचभौतिक शरीर को छोड़कर बाहर निकल जाता है। परलोक में प्राणी इस सूक्ष्म शरीर द्वारा ही वहाँ के जीवन और भोगों को भोगता है। इन्होंने अपनी पुस्तक "Supreme Adventure" में मृत्यु एवं पुनर्जन्म के विषय में जो कुछ लिखा है वह अपने शास्त्रों से बहुत कुछ मिलता है। इसी प्रकार अमेरिका के वर्जीनिया विश्वविद्यालय के मेडिकल विज्ञान के प्रोफेसर स्टीभेन्सन जो कई बार भारत आ चुके हैं, अपनी पुस्तक Twenty Cases of Re-in-

Carnation (पुनर्जन्म की बीस घटनाएँ) में इसी तरह की बातें प्रमाणित करते हैं। उन्होंने लिखा है कि "केवल भारत में ही नहीं बल्कि अन्य देशों में भी इसी प्रकार पुनर्जन्म की घटनाएं हो चुकी हैं; जिनसे पूर्वजन्म की सच्ची स्मृतियों का प्रमाण मिलता है। पूर्वजन्म को माने बिना इस प्रकार की घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकती।

मृत्यु के बाद:—पुनर्जन्म के सिद्धान्त के प्रतिपादन में अनेकानेक वैज्ञानिक पुस्तकें हैं। Tuesday Lobsong Rumpa नामक एक तिब्बती मेडिकल डाक्टर जो आजकल अमेरिका में निवास करता है, स्पष्टत: घोषित करता है कि वह परकाया-प्रवेश द्वारा एक अंग्रेज के शरीर में आजकल भौतिक जीवन जी रहा है। उसकी पुस्तकें The Third Eye', The Doctor from Lhasa आदि अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म की व्याख्या करती हैं। डा० भीखनलाल आत्रेय ने भी अपनी परामनोविद्या विषयक पुस्तक में इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि "पाश्चात्य आध्यात्मिक अनुसंधान, जो आजकल 'परामनोविज्ञान' के नाम से प्रसिद्ध हो चला है, के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि हिन्दूशास्त्र में वर्णित मृत्यु, परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक एवं सर्वथा सत्य हैं।"

उपसंहार—मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ जाता है? अब हमें वैज्ञानिक प्रक्रिया से विचारना है कि मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म शरीर कहां जाता है और कबतक पुनर्जन्म के बिना परलोक में रहता है। विज्ञान में सजातीय आकर्षण का सिद्धान्त माना जाता है। प्रत्येक वस्तु अपने सजातीय द्रव्य की ओर स्वभावत: जाती है। अत: मृत्यु के बाद गुरुत्वसम्पन्न भूत अर्थात् जलीय एवं पार्थिव अंश नीचे रह जाते हैं और गुरुत्वहीन तीन भूत तेज, वायु, आकाश ऊपर उठते हैं। कुछ विचारकों का मत है कि यह प्रेत देह या वायव्य देह वायु मंडल में भ्रमण करती रहती है। स्वामी अरविन्द के शब्दों में "वे अन्तरात्माएँ जो पुनर्जन्म के लिए लौटती हैं, कब नये शरीर में प्रवेश करती है, इसका कोई नियम नहीं बताया जा सकता; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के साथ विभिन्न परिस्थितियाँ होती हैं।"

मृत्यु के अनन्तर आत्मा या तो तुरत ही जन्म ले लेती है या कुछ समय तक प्रेतलोक में वायव्य या अतिवाहिक रूप में रहती है। कभी-कभी मृत्यु के वर्षों

बाद पुनर्जन्म होता है। इस सम्बन्ध में अनेक घटनाएं मिली हैं। बालक सुनील दत्त की कथा विख्यात है। उत्तर प्रदेश के बदायूं जिले में श्री कृष्ण इन्टर कालेज है। उसके संस्थापक थे सेठ श्री कृष्ण। उनका देहान्त हो गया २४-४-१९५१ को। उनका पुनर्जन्म मथुरा में हुआ। इसका विवरण लखनऊ से प्रकाशित होने वाली पत्रिका "नव जीवन" में तथा अनेक अन्य पत्रिकाओं में निकला। बालक ने अपने पुनर्जन्म के वृत्तान्त में श्री जनार्दन दत्त शुक्ल आई० सी० एस० का उल्लेख किया। शुक्ल जी १९४८ ई० में बदायूं में जिलाधीश थे और उन्हीं की प्रेरणा से 'श्री कृष्ण इन्टर कॉलेज' बनवाया था सेठ श्री कृष्ण जी ने। ३-१-१९६४ को बालक सुनीलदत्त की उम्र लगभग पांच वर्ष की थी। उसके द्वारा वर्णित यह पुनर्जन्म की घटना जनवरी १९६४ में छपी थी। बालक सुनीलदत्त ने बदायूं जाकर अनेक वस्तुओं एवं तथ्यों को पहचाना। उसने हजारों लोगों से परिचय प्राप्त किए एवं अपने पूर्वजन्म के प्रमाण दिए। उसने अपने पहले जीवन के मकान, चित्र, कालेज, मिल सामान आदि तो पहचाने ही, अवकाश प्राप्त प्रधानाचार्य को भी बीसों लोगों के बीच पहचान लिया। यहाँ यह स्पष्ट हो गया कि १९५१ से १९५९ के बीच जो ८ वर्षों का अन्तर रहा, उसके बाद पुनर्जन्म हुआ। इस बीच जीव कहाँ रहा ? वह प्रेतयोनि में रहा। अतः स्पष्ट है कि कभी-कभी मृत्यु के तुरत बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

कुछ शास्त्रों का मत है कि जीव पुरुष के वीर्य में प्रवेश करता है और तब गर्भ में पहुँचता है। वह अपने सूक्ष्म रूप में वर्षा के साथ उतरता है। फसलों के रूप में बढ़ता है। अन्न के रूप में पुरुष के उदर में जाता है। रक्त आदि से होते हुए वीर्य में प्रवेश करता है। श्री मद्भागवत में कहा गया है कि जीव प्रारब्ध कर्मवश देह-प्राप्ति के लिए पुरुष के वीर्य-कणों के साथ स्त्री के गर्भ में प्रवेश करता है—

"कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतः कणाश्रयः"

(श्री म. भा. ३/३१/१ ग० पु० सा० ६/५)

अब प्रश्न यह है कि क्या यह आत्मा और पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा निश्चित रूप से प्रमाणित हो सकता है ? जिन पाठकों को इस विषय में दिलचस्पी हो वे परा मनोविद्या विषयक निम्नोक्त पुस्तकों का अनुशीलन और मनन कर सकते हैं।

९

1. Stevenson —Twenty cases suggesting Re-incarnation.
2. H. Carrington—The story of Psychic Science, Laborastary Investigation into Psychic phenomena The Psychic world the prychical phernoment of spirilisom.
3. Nandor Fodor—Encyclopaedia of Psychic Science.
4. R. Crookall—Astral Projetion, Events on the thresh-hold of Death, Supreme Adventure.
5. Walker—Re-incarnation.
6. B. L. Atreya—Introduction to Para Psychology.
7. Tuesday Lobsang Rumpa —The third Eye. The lama of Tibbet The Doctor from Lhasa. You for ever.
8. Swami Abhedamand—Life Beyond Death.
9. Dr. D. D. S. Clark—Psychiatry today.
10. Harry price—Fifty years of Psychical Research.
11. Dr. Richet—Thirty years of Psychical Research.
12. Dr. J. B. Ryno—Extra-sensory perception.
New Frontiers of mind.
The Reach of mind.
The world of mind.
13. William James—Varieties of Religiovs Experience.
14. Prof. Pratt —Religious Consciousness.
15. Kanga—Lives of Alien Incarnation.
16. F. W. Wyres—Human personality and its survival.
17. Dr. Hudson—Law of Psychical phenomena.
18. Bishop Leadbeater—(1) Chakras (2) Clairvoyance
(3) Invisible helpers of Man
(4) Whence, How and Whither.
19. Butler—Exploring the psychical world.
20. Oliver Lodge—Survival of Man.

21. J. C. Bose—Response in Living and Non-living.
22. Dr. Crafford—Reality of Psychic Phenomena.
23 S D'smond—(1) You can speak with the dead (2) World-birth (3) The incarnation for every man. (4) We do not die. (5) How do you live when you die ?
24. Randell—The dead have never died.
25. Sir Arthur Edington—Science and the unseen world.
26. Aurobindo—The problem of Rebirth.
27. Vishnu Mahadeva Bhatta—Yogic powers and God-Realisation.
28. Arthur Findlay—On the Edge of the Etheric.
29. William Cooks—Research in spiritualism.
30. Simon Edmunds—Spiritualism : A critical survey.
31. F. W. H. Myers—Human Personality and its survival of Bodily Death.
32. C. K. Shaw—Yes, We do survive.
33. Frank Podmore—Modern Spiritualism.
34. Sir William Crookes—Research in the phenomena of Spiritualism.
35. J. Arthur Hill—Spiritualism—its History, Phenomena & Doctrine.
36. Antony Flew—A new approch to Psychical Research.
37. Sir W. F. Barret—Psychical Research.
38. Joseph Marcabe—Spiritualism : a Popular History since 1847.

☆

(१)

नमोऽस्तु ते निऋतो तिग्मतेजो
अयमस्मान् विघृता बन्धपाशात्
यमो मह्यं पुनरितू त्वां ददाति
तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे

—अथर्ववेद ६६२ । २

हे मृत्यु के देवता यमराज ! आपको नमस्कार है। आपकी तीक्ष्ण तेजस्विनी संहार-शक्ति समस्त बन्धन-पाश को काट कर, हमें सभी सांसारिक जालों से, चिन्ताओं से, मुक्त कर देती है। आप को नमस्कार !

(२)

स्वधा च यत्र तृप्तिश्च
तत्र माममृतं कृधि

ऋग्वेद ९ । ११३ ।१०

मुझे अब ऐसे अमृत लोक में ले चलो जहाँ आत्म तृप्ति या शान्ति के अतिरिक्त कुछ शेप नहीं रहता ।

द्वितीय खंड

परिचर्चा १

[सर्वोदय का सिद्धांन्त]

सर्वोदय का सिद्धांत

प्रो० अशोक कुमार वर्मा

'सर्वोदय' की समीक्षा करने के पूर्व मैं अपने लेख में सर्वोदय के संबंध में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' की व्याख्या करूंगा।

सर्वोदय क्या है ?—'सर्वोदय' कोई वाद नहीं है, यह एक सामाजिक आदर्श का संप्रत्यय है। सर्वोदय का अर्थ है—सबका उदय, सबका उत्कर्ष या विकास। सर्वोदय का विचार प्राचीन है। हजारों वर्ष पहले भारतीय विचारकों ने बतलाया था :—

सर्वेभवन्तु सुखिन : सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्।'[1]

जैनाचार्य समंतभद्र ने कहा है—

'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।[2]

वर्तमान काल में गांधीजी को रस्किन की पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट' से प्रेरणा मिली और उन्होंने उस पुस्तक का अनुवाद किया। उस अनुवाद का नाम उन्होंने 'सर्वोदय' रखा।[3] रस्किन ने अपनी पुस्तक में मुख्यतः तीन बातों का प्रतिपादन किया है :

(क) व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित है।

(ख) वकील का काम हो, चाहे मोची का, दोनों का मूल्य समान है; कारण, प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

(ग) शारीरिक श्रम करने वाले का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।[4] पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बातें सन्निहित हैं। सबके हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। अतः सबका हित, सबका उदय, अपेक्षित है। इसी आधार पर गांधीजी ने एक सामाजिक आदर्श की कल्पना की जिसे 'सर्वोदय' कहा। गांधीजी की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी तथा सहकर्मी विनोबा भावे ने उस विचार का विस्तार किया है और अपने विविध कार्यक्रमों के द्वारा उसको मूर्त रूप दे रहे हैं।

सर्वोदय के संप्रत्यय में 'सर्व' या 'सब' व्यापक अर्थ में व्यवहृत है। यूँ तो 'सब' के अन्तर्गत सारा ब्रह्मांड निहित है, पर मानव समाज के संबंध में इसका अर्थ होगा 'सभी मानव'; इसलिए सर्वोदय का तात्पर्य समस्त मानव जीवन के उदय या विकास से है। यहाँ 'सब' शब्द ऐसा है जिसका मानव ज्ञान-विकास के साथ-साथ अर्थ भी विकसित होता जाएगा। इसलिए विनोबा ने बतलाया है कि "सर्वोदय एक ऐसा अर्थ-घन शब्द है, जिसका जितना अधिक चिन्तन और प्रयोग हम करते जाएगें उतना ही अधिक अर्थ हम उससे पाते जाएंगे।"[8] 'सर्वेऽपि सुखिनः' की कल्पना अन्य सिद्धांतवादियों ने भी की है, पर वे 'सब' के विचार तक जाते-जाते अटक जाते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक 'मिल' और 'बेन्थम' का कहना है कि 'चाहिए तो यही कि सब का शुभ हो पर यह विचार व्यवहार्य नहीं है;' अतः उन्होंने 'अधिकतम संख्या' के शुभ की कल्पना की। सर्वोदय के विचार से उनके विचारों मे मूलभूत अंतर है। सर्वोदय के 'सब' में 'अधिकतम' अन्तर्भूत है, अतः कई स्थलों पर दोनों के दृष्टिकोण समान हो सकते हैं, पर कभी-कभी उनकी दिशाएँ उल्टी भी हो जा सकती हैं। 'अधिकतम' के सिद्धान्त का परिपोषक अन्य के लिए अपने स्वार्थ की बलि नहीं चढ़ा सकता, पर 'सर्वहित' के आदर्श में जिसकी निष्ठा है, वह अन्य के लिए अपने स्वार्थ को कुचल देने में नहीं हिचकिचाएगा। वह अन्य के लिए मरने तक के लिए तत्पर होगा।[9] हेगेल के 'जीने के लिए मरो (Die to live)' वाली उक्ति में भी अपनी आहुति अपने जीने के लिए मानी गई है, पर सर्वोदय की उक्ति है 'अन्य को जिलाने के लिए मरो (Die so that others may live)।' सर्वोदय में 'सर्व' का बोध ही मुख्य है।

'सर्व भूत हिताय' विचार को कुछ सिद्धांतवादी अव्यावहारिक मानते हैं। 'यह एक आकांक्षा मात्र हो सकती है, पर व्यवहार में इसका विनियोग संभव नहीं है,' ऐसा सोचा जाता है। पर प्रश्न यहाँ व्यवहार का नहीं, आदर्श का है; प्रश्न यह नहीं है कि मनुष्य 'क्या करता है,' पर यह है कि 'क्या होना चाहिए।' आदर्श के विचार में समग्रता होनी चाहिए, आंशिकता नहीं। सबका हित हो, अंश का नहीं, यही आदर्श होना चाहिए। आदर्श यथार्थ की व्याख्या नहीं, दिशा का निर्देश है। वह पकड़ में नहीं होता, पहुँच में अवश्य होता है। उस दिशा में चलते रहने पर प्रगति होती है—निरंतर प्रगति तथा विकास। आदर्श यदि यथार्थ हो तो

फिर प्रगति किस ओर होगी ? और तब वह आदर्श नहीं रहेगा। 'सब का उदय' या 'सब सम्पन्न हो' ऐसा विचार अप्राप्य या असाध्य नहीं, अपितु प्रयत्न-साध्य है। प्रयत्न साध्य है, इसलिए यह व्यवहार की नीति का निर्देश करता है।

सर्वोदय के 'सब' के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग, समुदाय, रंग, प्राणी आ जाते हैं।[८] यह व्यापकता का सकेतक है, इसलिए इसमें केवल बहुसंख्या का नहीं, अपितु 'सब' का समावेश हो जाता है। इस विचार से वर्ग-हित या समुदाय हित के विचार का ताल मेल नहीं हो सकता। वर्ग-हित का विचार तो सीमित दृष्टिकोण का परिणाम है। जब सीमाओं से या खंडों से उठ जाते हैं, तो अखंडता का, समग्रता का विचार आता है।

सर्वोदय का 'सर्व' केवल संख्यात्मक नहीं, गुणात्मक भी है। यह सर्वांगीण विकास या उदय का, आत्मपूर्णता का विचार है। 'सबका' विकास तो हो ही, पर सब प्रकार का विकास, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास भी। मनुष्य में अनेक क्षमताएँ या सामर्थ्य हैं। उन क्षमताओं का अपनी मर्यादा के अनुसार पूर्ण विकास का विचार भी सर्व-विकास में निहित है। अतः 'सर्व' शब्द की व्यापकता में परिणाम और गुण दोनों समाविष्ट हो जाते हैं।

अब प्रश्न है कि उदय या विकास का स्वरूप क्या हो ? सर्वोदय में उदय या विकास का अर्थ है 'जीवन का विकास और जीवन का अधिक से अधिक विस्तार'।[९] इसमें जीवन ही परम मूल्य विचार गया है; पर उदय या विकास शब्द केवल शारीरिक आर्थिक या ऐहिक वैभव के लिए व्यवहृत नहीं है। जीवन के विकास का अर्थ केवल बल की वृद्धि नहीं है, अपितु मनुष्य की सभी क्षमताओं की वृद्धि। बल या शारीरिक शक्ति मनुष्य की विशेपता नहीं है। बल पाशविक विशेपता है। मनुष्य की विशेषता बुद्धि है। यही मनुष्य की शक्ति है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'।[१०] बुद्धिबल ही वस्तुतः आत्मशक्ति है। 'शरीर-शक्ति से भिन्न, बाहुबल से भिन्न, एक असीम, अमर्याद शक्ति है, जो शरीर के साथ क्षीण नहीं होती।'[११] पर इसका यह अर्थ नहीं कि शरीर का कोई मूल्य ही नहीं है। 'अच्छे शरीर की भी आवश्यकता है, उसका महत्त्व है; क्योंकि शरीर शक्ति का आयतन है, अधिष्ठान नहीं।" अतः विकास का अर्थ सर्वांगीण विकास है। इस विचार में पाश्चात्य सुखवाद या बुद्धिवाद की भांति एकपक्षता नहीं है। प्लेटो तथा हेगेल का विचार कि

सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पूर्णता ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए सर्वोदय की नीति के समकक्ष है। पर जहाँ उनके विचार व्यक्ति की आत्म-पूर्णता से सम्बद्ध हैं, वहां सर्वोदय सामाजिक आत्मपूर्णता की ओर इंगित करता है। समर्थता और असमर्थता सभी में बटी है। अन्य की अक्षमता का निराकरण और अपनी-अपनी क्षमताओं का विकास ही वास्तविक उदय या जीवन है। डार्विन ने तो बल को ही जीवन विचारा और हक्सले ने सह-अस्तित्व को, पर सर्वोदय में उदय का अर्थ है सह-सम्पन्नता। 'तुम जिलाने के लिए जिओ,[१२] दूसरों को अपना बनाओ—अद्वैत की स्थापना करो।[१३] सबके जीवन को सम्पन्न बनाना या जीवन सर्वत्र सम्पन्न बनाना शारीरिक और आध्यात्मिक सम्पन्नता का आदर्श-ही सर्वोदय हैं।[१४]

सर्वोदय क्यों?—सर्वोदय अर्थात् सबका उदय या सबका उत्कर्ष या सर्वांगीण विकास क्यों? सर्वोदय का सार यही है कि सबके मानवीय अधिकार समान हैं। वर्ग, जाति, धर्म, रंग आदि के आधार पर मनुष्य और दूसरे मनुष्य में असमानता नहीं है। व्यक्ति का हित सबके हित पर निर्भर है और सबका उदय अपेक्षित है। सर्वोदय समानता तथा मानवता के विचार पर आधारित है, जिसका स्रोत है अद्वैत-तत्त्व-दर्शन। अद्वैत-तत्त्व-दर्शन को व्यावहारिक क्षेत्र में उतारने का प्रयास सर्वोदय है। भारत में दर्शन कोरा सिद्धांत नहीं, बल्कि उसे जीवन के अंगीभूत व्यवहारों में लाने का प्रयास सदा से रहा है। दर्शन और धर्म में जो सामीप्य यहाँ है वह पाश्चात्य देशों में नहीं मिलता। इसलिए सर्वोदय का विचार भारत के लिए नया नहीं है। पर दर्शन और धर्म को अधिकांश विचारकों ने व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित रखा। गांधीजी ने उन्हें सामाजिक व्यवहार तथा संबंधों में भी लागू करने का प्रयत्न किया है।

सर्वोदय के विचार का मूल आधार है गांधी-विनोबा के ईश्वर तथा आत्मा के संबंध में विचार।[१५] उनके अनुसार ईश्वर ही परम सत्ता है। विश्व ईश्वर का ही व्यक्त रूप है। वह प्रत्येक मनुष्य, प्राणी तथा वस्तु में निहित है; अतः विश्व के प्रत्येक पदार्थ में समानता है, सभी कुछ ईश्वरमय है 'ईशावास्य मिदं सर्वम्'। यदि उस तत्त्व-दर्शन से मानव जीवन के लक्ष्य को जोड़ा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का धर्म समाज में समानता लाना माना जायगा। तब एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के हितों में विरोध की बात समाप्त हो जाएगी और स्वार्थ और परार्थ का भेद मिट जाएगा।

गांधीजी यथा विनोबा भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की भांति आत्म-साक्षात्कार को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। गांधीजी का यह विश्वास है कि इस उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य सम्पूर्ण मानव-जाति के साथ तादात्म्य स्थापित करे और सबके अधिकतम हित की सिद्धि में प्रयत्नशील रहे;[१६] कारण, ईश्वर और मनुष्य में कोई विरोध नहीं है। मनुष्य में और अन्य कोटि की सृष्टि में आत्मा ही परम तत्त्व है। वही पृथक् प्रतीत होनेवाले जीवनधारियों में एकात्मकता का सूत्र है। "मैं ईश्वर की और इसलिए मानवता की भी निरपेक्ष एकता में विश्वास करता हूँ। यद्यपि हमारे शरीर अनेक हैं, परन्तु हमारी आत्मा एक है।"[१७] सभी जीवनधारियों की मूलभूत एकता केवल मनुष्यों के भ्रातृत्व के सिद्धांत से भिन्न है। मूलभूत एकता के कारण ही एक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास अन्य के विकास का विरोधी नहीं हो सकता। यदि एक व्यक्ति का पतन होता है, तो उस अंश में सारे संसार का पतन होता है। वह ईश्वर, आत्मा तथा विश्व का अद्वैत विचार है और इसीसे सर्वोदय का विचार उद्भूत होता है। यह सत्य है कि ईश्वर तथा विश्व के अद्भुत सम्बन्ध के विषय में शंकाएँ उठाई जाती हैं। पर इन शंकाओं के कारण सर्वोदय की, पारमार्थिक मूल्य के रूप में, अनिवार्यता घट नहीं जाती। जीवन का मूल्य तो सभी मानते हैं, आस्तिक या नास्तिक, स्वार्थवादी या परमार्थवादी। इसलिए जीवन का विकास या विस्तार करना परम मूल्य हो जाता है। यदि यही सत्य है तो सभी का जीवन सम्पन्न हो, इसे कौन नकार सकता है? हाँ, बात रही इसके व्यावहारिक होने की! पर यह तो प्रश्न ही दूसरा है। मनुष्य जब तक मनुष्य है, पूर्ण नहीं हो सकता। पूर्णता की ओर बढ़ने की क्षमता मनुष्य में है। आदर्श और व्यवहार में सदा अन्तर रहेगा। यदि पूर्ण आदर्श की प्राप्ति हो जाए तो आदर्श नहीं रहेगा।[18] इसलिए उसकी ओर बढ़ते रहने का प्रयत्न ही जीवन के विकास और विस्तार का सूचक है। मानव स्वभाव को नियंत्रित करने में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। पर साध्य की दिशा में साधन करते रहना ही जीवन का विकास है; साध्य है सम्पूर्ण जीवन का विकास—सबका विकास अर्थात् सर्वोदय। अतः सर्वोदय का विचार पूर्णतः तर्कसंगत है।

सर्वोदय कैसे?—सर्वोदय-विचार में साधन की प्रधानता मानी गयी है। यदि साधन शुद्ध हो तो साध्य अपने आप पकड़ में आता

जाएगा और हम निरन्तर उसकी ओर बढ़ते जाएंगे। आत्मानुभूति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। आत्मानुभूति का अर्थ है ईश्वर की प्राप्ति, और यह सम्पूर्ण प्राणीमात्र की सेवा से ही उपलब्ध हो सकता है। ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग है उसे उसकी सृष्टि में अनुभूति करना और उसके साथ तादात्म्य; अतः आत्मानुभूति और समाज-सेवा में अन्तर नहीं है। इस प्रकार सर्वोदय में सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक उन्नति भी निहित है। परम साध्य से साधन की समस्या जुड़ी हुई है; क्योंकि नैतिक साधनों से ही साध्य की ओर बढ़ा जा सकता है। सर्वोदय के विचार का 'साधन के औचित्य का आधार साध्य' के विचार से मेल नहीं है। अनैतिक साधनों से नैतिक तथा आध्यात्मिक साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए साध्य को प्राप्त करने के लिए नैतिक अनुशासन की आवश्यकता है। गांधीजी ने उन अनुशासनों को व्रत कहा है और एकादश व्रतों का उल्लेख किया है जिनमें सत्य और अहिंसा मुख्य है। अब प्रश्न है कि सर्वोदय सम्भव कैसे है, इसके साधन क्या हैं? उत्तर है– सत्य और अहिंसा।

सत्य और सर्वोदय जुड़े हुए है। सत्य का अर्थ है 'जिसका अस्तित्व है;' असत्य का अर्थ है 'जिसका अस्तित्व न हो।' जहाँ अस्तित्व ही नहीं, वहाँ सफलता कैसे मिल सकती है और जिसका अस्तित्व है, उसे मिटा कौन सकता है? सत्य दो प्रकार के है, निरपेक्ष या साध्यरूप और सापेक्ष या साधन-रूप। सत्य का साध्य-रूप निरपेक्ष, सार्वभौम तथा देश-काल के परे है। सत्य ही ईश्वर है। इसमें समस्त ज्ञान भी सन्निहित है। दैहिक सीमाओं मे इसका पूर्ण रूप से साक्षात्कार सम्भव नहीं है; पर इसकी ओर अग्रसर होने के लिए सापेक्षिक सत्य मार्ग पर जीवन यापन का प्रयत्न आवश्यक है।[21] सत्य केवल वाणी और विचार तक ही सीमित नहीं है, अपितु कर्म से भी सम्बद्ध है। यह जीवन के किसी विशेष क्षेत्र से नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव जीवन से सम्बद्ध है। अतः इसमें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, व्यावसायिक और राजनीतिक क्षेत्र भी सम्मिलित है। सत्यमार्ग का अविचलित अनुसरण सत्याग्रह है। सत्याग्रह के द्वारा ही सामाजिक आदर्श के निकट पहुँचा जा सकता है। सत्य की उपपत्ति है सहिष्णुता और परस्पर कटुता से अलगाव। सत्यता के साथ विनम्रता जुड़ी हुई है। इसलिए सत्य का दूसरा पहलू अहिंसा है। हिंसा असत्य है, क्योंकि यह मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। यदि हिंसा ही मानव स्वभाव के अनुकूल होती तो उसके निराकरण का प्रयत्न क्यों होता? अहिंसा के दो रूप हैं,

निषेधात्मक और विधानात्मक। निषेधात्मक रूप में अहिंसा तो मात्र किसी को अपनी वाणी, मन और कर्म से कष्ट नहीं देना है, पर विधानात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है साहचर्य या प्रेम। यह वह तत्त्व है जिससे एक का दूसरे से विरोध, जो हिंसा का उत्पादक है, समाप्त हो जाता है। प्रेम के द्वारा ही आध्यात्मिक एकता का बोध होता है।

गांधीजी ने निरपेक्ष अहिंसा तथा अनिवार्य हिंसा की भी चर्चा है। निरपेक्ष अहिंसा का अर्थ है हिंसा से पूर्ण मुक्ति अर्थात् अज्ञान पर आधारित दुर्भावना, क्रोध और घृणा से छुटकारा और सबके प्रति विवेकपूर्ण प्रेम का बाहुल्य।[22] पर यह पूर्णता की स्थिति है और इसे अपूर्ण मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। कोई भी मनुष्य हिंसा से पूर्णतः मुक्त नहीं रह सकता।[23] खाने-पीने, घूमने-फिरने में आवश्यक रूप से कुछ-न-कुछ जीवों की हिंसा होती है; पर यह अनिवार्य हिंसा है और विहित है। अनिवार्य हिंसा भी स्वाभाविक, दयापूर्ण तथा विवेकपूर्ण होना चाहिए। कायरता और अहिंसा में परस्पर-विरोध है। दोनों साथ नहीं रह सकते।[24] कायरता और हिंसा में हिंसा वरणीय है।

अहिंसा आत्मा की शक्ति है, हिंसा शरीर की। दोनों में अहिंसा श्रेष्ठ है। हिंसा जेय है, अहिंसा अजेय, अतः अहिंसा की हिंसा पर विजय होती है। आत्म-शक्ति के प्रयोग से हृदय-परिवर्त्तन कर शान्तिपूर्वक ढंग से सामाजिक परिवर्त्तन सम्भव है। इन्हीं परिवर्त्तनों के द्वारा सामाजिक आदर्श की ओर मानव-समाज अग्रसर होता जाएगा। इसलिए सर्वोदय के ये दो स्तम्भ हैं, सत्य और अहिंसा।

विनोबा भावे ने सत्य और अहिंसा का व्यावहारिक रूप दिया है और सामाजिक परिवर्त्तन की भिन्न स्थितियों का उल्लेख किया है। ये स्थितियां है, भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान आदि। सत्य और अहिंसा के प्रयोग से मानव समाज की प्राथमिक समस्या, भूमि-समस्या के सम्बन्ध में ये विनोबा की योजनाएँ हैं। बिना वर्ग-संघर्ष के, प्रेम के आधार पर, आर्थिक विषमताओं को दूर करने की चेष्टा की गई है। विनोबा की मान्यताएं भी गांधीजी की मान्यताओं के समान हैं। आत्मा की शक्ति सभी में है पर यह कुछ लोगों में सुपुप्त रूप में है। उस शक्ति के प्रयोग से ही घृणा तथा पार्थक्य का अन्त संभव है और वास्तविक एकता संभव हो सकती है। सर्वसंपन्नता की यह आवश्यक शर्त है। इसी के द्वारा सर्वोदय की सिद्धि के मार्ग पर मनुष्य अग्रसर होता है।

समीक्षा—गांधीजी के द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय-विचार भारतीय विचारकों के लिए कोई मौलिक धारणा, संप्रत्यय या दर्शन नहीं है। उन्होंने मौलिकता का कोई दावा भी नहीं किया है। पर जहाँ अब तक इस विचार का महत्व व्यक्ति के जीवन और आचरण में आंका गया वहाँ गांधीजी तथा विनोबा ने इस विचार का मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्व बतलाया है। उनकी मौलिकता इस संप्रत्यय के समाजीकरण में है। वास्तव में उनका सर्वोदय-संबंधी विचार अद्वैत दर्शन को विचारों के धरातल से यथार्थता के धरातल पर उतारने का प्रयत्न है, जीवन का कोई भी क्षेत्र, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक, इससे अछूता नहीं है। मानव जीवन एक है, पृथक् टुकड़ों में बँटा हुआ नहीं; अतः जीवन का कोई भी आदर्श, न मानव-विशेष का आदर्श हो सकता है और न जीवन के विभिन्न क्षेत्र-विशेषों का। अतः सर्वोदय सम्पूर्ण मानव-समाज का आदर्श है। आदर्श समाज के विचार के रूप में सर्वोदय-विचार से किसी को असहमति नहीं हो सकती। 'सर्व-उत्कर्ष' के विचार से स्वार्थवादी का भी विरोध नहीं हो सकता क्योंकि 'सर्व' में तो 'स्व' भी सम्मिलित है। इस बात में भी विवाद नहीं है कि सर्वोदय की मान्यताएँ आध्यात्मिक हैं, जैसे ईश्वर, आत्मा आदि का विचार, जिनके संबंध में शंकाएँ उठाई जा सकती हैं; पर अध्यात्म की मान्यताओं को हटा देने पर भी सर्वोदय-विचार की पुष्टि तर्क के आधार पर होती है। वास्तव में सर्वोदय-विचार व्यावहारिक तत्व-दर्शन है। सत्य और अहिंसा सर्वोदय की आधार-शिलाएँ हैं। भारत में सत्य और अहिंसा की परम्परा भी पुरानी है। वेद, उपनिषद्, गीता तथा बुद्ध, महावीर आदि मनीषियों ने अहिंसा को प्रतिष्ठित किया है। पर गांधीजी तथा विनोबा ने इन आदर्शों को केवल वैयक्तिक जीवन में नहीं, अपितु सामाजिक क्षेत्र में भी उतारने की चेष्टा की है। अहिंसा को सामाजिक परिवर्तन का तकनीक माना गया है। अहिंसा के द्वारा मानवीय समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। अहिंसा के द्वारा ही, जिसका भावात्मक पक्ष प्रेम है, मनुष्य की विषमताओं को दूर किया जा सकता है और मनुष्य में तादात्म्य स्थापित हो सकता है। प्रेम के द्वारा ही मानव-हृदय में परिवर्तन लाकर आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक असमानता मिटाई जा सकती है और सर्वोदय-समाज की स्थापना हो सकती है। इसी संदर्भ में विनोबा ने भूदान, सम्पत्ति-दान आदि के प्रोग्राम बनाये हैं। प्रेम के द्वारा हृदय-परिवर्तन का विचार मानव स्वभाव की मूलभूत अच्छाइयों के विश्वास पर

आश्रित है। मानव-स्वभाव की मूलभूत अच्छाई सर्वोदय की पूर्वमान्यता है। पर क्या यह मान्यता शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित है? हॉब्स के उस एकपक्षीय विचार से हम सहमत नहीं हैं कि मनुष्य का मौलिक स्वभाव दुष्ट तथा स्वार्थी है। हां, मनुष्य के स्वभाव में स्वार्थ और परार्थ, शुभ और अशुभ, दोनों के अंकुर हैं। इसलिए प्रेम से सभी में आसानी से परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इसके लिए परिवर्तन की चेष्टा करनेवाले में स्वयं आत्म-बलिदान की निष्ठा आवश्यक है। ऐसा कठिन अनुशासन से ही संभव है। गांधीजी ने इसी के लिए व्रतों के पालन की बात कही है। इसलिए अहिंसा आदि साधनों का प्रयोग तो आत्म-शुद्धि और अन्तःशुद्धि पर निर्भर है। अन्तःशुद्धि एक आवश्यक मान्यता है जो आत्मानुभूति और आत्म-प्रयोग से सम्बद्ध है। ये सभी अनुष्ठान व्यक्तिगत आचरण से सम्बद्ध हैं। अतः व्यक्तिगत मोक्ष के स्थान पर सामाजिक मोक्ष की कल्पना व्यवहार में सिमट कर व्यक्ति तक ही सीमित रह जाती है। इसीलिए गांधीजी और विनोबा के प्रयास के बावजूद सर्वोदय समाज की उस दिशा में न्यून प्रगति दृष्टिगोचर होती है। गांधीजी के देश में ही गांधीवाद की मृत्यु और विनोबा का अन्त में स्वसाधन में सिमट जाना क्या इसका प्रमाण नहीं है? यूं तो व्यक्तिगत रूप में इन धर्मों से आच्छादित इक्के-दुक्के मनीषी तो भारत में सदा से रहे हैं, पर समाज इसे कब ग्रहण करेगा और कैसे, इसे विचारना है। आदर्श के रूप में या जीवन के परम मूल्य के रूप में सर्वोदय न्यायसगत ही नहीं, बुद्धिसंगत भी है। इस दिशा में बढ़ने का प्रयत्न भी प्रगति ही है और शायद यही इसके प्रणेताओं का अभिप्राय भी।

संकेत :

१. धर्माधिकारी, दादा : सर्वोदय-दर्शन, पृ० ५ (अ० भा० सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट-काशी) १९५८।

२. वही पृ० ५।

३. गांधी, मो० क०: सर्वोदय, पृ० ३ (नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद) १९५८—विनोबा : सर्वोदय-विचार, पृ० १६ (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली—१), १९६०।

४. वही, पृ० ३।

समीक्षा—गांधीजी के द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय-विचार भारतीय विचारकों के लिए कोई मौलिक धारणा, संप्रत्यय या दर्शन नहीं है। उन्होंने मौलिकता का कोई दावा भी नहीं किया है। पर जहाँ अब तक इस विचार का महत्व व्यक्ति के जीवन और आचरण में आंका गया वहाँ गांधीजी तथा विनोबा ने इस विचार का मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्व बतलाया है। उनकी मौलिकता इस संप्रत्यय के समाजीकरण में है। वास्तव में उनका सर्वोदय-संबंधी विचार अद्वैत दर्शन को विचारों के धरातल से यथार्थता के धरातल पर उतारने का प्रयत्न है, जीवन का कोई भी क्षेत्र, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक, इससे अछूता नहीं है। मानव जीवन एक है, पृथक् टुकड़ों में बँटा हुआ नहीं; अतः जीवन का कोई भी आदर्श, न मानव-विशेष का आदर्श हो सकता है और न जीवन के विभिन्न क्षेत्र-विशेषों का। अतः सर्वोदय सम्पूर्ण मानव-समाज का आदर्श है। आदर्श समाज के विचार के रूप में सर्वोदय-विचार से किसी को असहमति नहीं हो सकती। 'सर्व-उत्कर्ष' के विचार से स्वार्थवादी का भी विरोध नहीं हो सकता क्योंकि 'सर्व' में तो 'स्व' भी सम्मिलित है। इस बात में भी विवाद नहीं है कि सर्वोदय की मान्यताएँ आध्यात्मिक हैं, जैसे ईश्वर, आत्मा आदि का विचार, जिनके संबंध में शंकाएँ उठाई जा सकती हैं; पर अध्यात्म की मान्यताओं को हटा देने पर भी सर्वोदय-विचार की पुष्टि तर्क के आधार पर होती है। वास्तव में सर्वोदय-विचार व्यावहारिक तत्व-दर्शन है। सत्य और अहिंसा सर्वोदय की आधार-शिलाएँ हैं। भारत में सत्य और अहिंसा की परम्परा भी पुरानी है। वेद, उपनिषद्, गीता तथा बुद्ध, महावीर आदि मनीषियों ने अहिंसा को प्रतिष्ठित किया है। पर गांधीजी तथा विनोबा ने इन आदर्शों को केवल वैयक्तिक जीवन में नहीं, अपितु सामाजिक क्षेत्र में भी उतारने की चेष्टा की है। अहिंसा को सामाजिक परिवर्तन का तकनीक माना गया है। अहिंसा के द्वारा मानवीय समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। अहिंसा के द्वारा ही, जिसका भावात्मक पक्ष प्रेम है, मनुष्य की विषमताओं को दूर किया जा सकता है और मनुष्य में तादात्म्य स्थापित हो सकता है। प्रेम के द्वारा ही मानव-हृदय में परिवर्तन लाकर आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक असमानता मिटाई जा सकती है और सर्वोदय-समाज की स्थापना हो सकती है। इसी संदर्भ में विनोबा ने भूदान, सम्पत्ति-दान आदि के प्रोग्राम बनाये हैं। प्रेम के द्वारा हृदय-परिवर्तन का विचार मानव स्वभाव की मूलभूत अच्छाइयों के विश्वास पर

आश्रित है। मानव-स्वभाव की मूलभूत अच्छाई सर्वोदय की पूर्वमान्यता है। पर क्या यह मान्यता शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित है? हॉब्स के उन एकपक्षीय विचार से हम सहमत नहीं हैं कि मनुष्य का मौलिक स्वभाव दुष्ट तथा स्वार्थी है। हाँ, मनुष्य के स्वभाव में स्वार्थ और परार्थ, शुभ और अशुभ, दोनों के अंकुर हैं। इसलिए प्रेम से सभी में आसानी से परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इसके लिए परिवर्तन की चेष्टा करनेवाले में स्वयं आत्म-बलिदान की निष्ठा आवश्यक है। ऐसा कठिन अनुशासन से ही संभव है। गांधीजी ने इसी के लिए व्रतों के पालन की बात कही है। इसलिए अहिंसा आदि साधनों का प्रयोग तो आत्म-शुद्धि और अन्तःशुद्धि पर निर्भर है। अन्तःशुद्धि एक आवश्यक मान्यता है जो आत्मानुभूति और आत्म-प्रयोग से सम्बद्ध है। ये सभी अनुष्ठान व्यक्तिगत आचरण से सम्बद्ध हैं। अतः व्यक्तिगत मोक्ष के स्थान पर सामाजिक मोक्ष की कल्पना व्यवहार में सिमट कर व्यक्ति तक ही सीमित रह जाती है। इसीलिए गांधीजी और विनोबा के प्रयास के बावजूद सर्वोदय समाज की इस दिशा में न्यून प्रगति दृष्टिगोचर होती है। गांधीजी के देश में ही गांधीवाद की मृत्यु और विनोबा का अन्त में स्वसाधन में सिमट जाना क्या इसका प्रमाण नहीं है? यूं तो व्यक्तिगत रूप में इन धर्मों से आच्छादित इक्के-दुक्के मनीषी तो भारत में सदा से रहे हैं, पर समाज इसे कब ग्रहण करेगा और कैसे, इसे विचारना है। आदर्श के रूप में या जीवन के परम मूल्य के रूप में सर्वोदय न्यायसंगत ही नहीं, बुद्धिसंगत भी है। इस दिशा में बढ़ने का प्रयत्न भी प्रगति ही है और शायद यही इसके प्रणेताओं का अभिप्राय भी।

संकेत :

१. धर्माधिकारी, दादा : सर्वोदय-दर्शन, पृ० ५ (अ० भा० सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट-काशी) १९५८।

२. वही पृ० ५।

३. गांधी, मो० क०: सर्वोदय, पृ० ३ (नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद) १९५८—विनोबा : सर्वोदय-विचार, पृ० १६ (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली—१), १९६०।

४. वही, पृ० ३।

५. विनोबा : सर्वोदय-संदेश, पृ० ५ (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली—१), १९६० ।
६. गांधी, मो० क : सर्वोदय, पृ० ४ (नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद) १९५८ ।
७. धर्माधिकारी, दादा : सर्वोदय-दर्शन, पृ० ४९-५० (अ० भा० सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट-काशी) १९५८ ।
८. वही, पृ० ५२ ।
९ वही, पृ० ४९ ।
१०. वही, पृ० ५७ ।
११. वही, पृ० ५७ ।
१२. वही, पृ० ५६ ।
१३ वही, पृ० ५९ ।
१४ वही, पृ० ५९ ।
१५ हरिजन, १४-५-३८, पृ० १०९ ।
१६. धावन, गोपीनाथ : सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० ३५ (नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद--१४), १९६३ ।
१७. यंग इंडिया, भाग—२, पृ० ८१ ।
१८. हरिजन—१४-१०-३९, पृ० ३०३ ।
१९. गांधीजी, मो० क० : सर्वोदय, पृ० ६० (नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद—१४,) १९५८ ।
२०. गांधी, मो० क० : दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह, उत्तरार्द्ध, पृ०-१३७ (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली—१) १९३८ ।
२१ गांधी, मो० क० : आत्मकथा, प्रस्तावना, पृ० ८ (नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद—१४) १९५८ । हरिजन, २५-५-३५, पृ० ११८ ।
२२. यंग इंडिया—१-१०-३१ ।
२३. गांधी, मो० क० : आत्मकथा भाग २, पृ० २२९, (नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद) १९५८ : य० इ० भाग २ पृ० ९६० ।
२४ हरिजन, ४-११-'३९, पृ० ३३१ ।

—:o:—

सर्वोदय का सिद्धांत

डॉ० रामजी सिंह

१. सर्वोदय : व्युत्पत्ति और विग्रह —'सर्वोदय' एक सामाजिक शब्द है जो 'सर्व' और 'उदय' के योग से बना है और लोक-व्यवहार और संदर्भ के कारण यह योगरूढ़ बन गया है। 'सर्व' शब्द संस्कृत में अपने रूढ़ संज्ञा अर्थ को छोड़कर सर्वनाम है जो पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक, तीनों लिंगों में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में प्रयोग के अनुसार 'सब' (सर्व) शब्द बहुवचन है किन्तु संस्कृत में 'सर्व' का एकवचन में अखण्ड या सम्पूर्ण के अर्थ में आता है। (जैसे, तेन सर्वः निबन्ध पठितः, मया सर्वा कथा पठिता, त्वया सर्व फलं भुक्तम्।) और बहुवचन में सब या सबकोई अर्थ में आता है (जैसे, सर्वे छात्राः पठन्ति, सर्वाः बालिकाः हसन्ति, सर्वाणि फलानि पक्वानि सन्ति।) जो भी हो, चाहे यह एकवचन में आवे या बहुवचन में, 'सर्व' शब्द विशेषणवाचक ही है। शाकटायन के अनुसार सभी शब्द धातु-मूलक होते हैं। शब्दा : स्युः धातुयोनयः।

'सर्व' शब्द की उत्पत्ति 'सृ' धातु में वन्' प्रत्यय जोड़ने से (सरति इति सर्वम्) होती है। किन्तु सर्वत्र धात्वर्थ के अनुसार ही शब्दार्थ नहीं होता। कैय्यट, पाणिनि एवं मम्मट आदि का सिद्धान्त हैं—अन्यत् हि प्रवृत्ति-निमित्तं अन्यत् हि व्युत्पत्ति-निमित्तम्। यहाँ 'सर्व' का अर्थ (सब) 'सृ' धातु के अनुसार न होकर रूढ़ अर्थ में हुआ है।

इसके दूसरे शब्द 'उदय' की व्युत्पत्ति स्पष्ट है। यह 'उत्' उपसर्ग जोड़कर 'उ' धातु में 'अ' प्रत्यय के मिलाने से 'एरच' सूत्र से बनता है।[1] किन्तु प्रश्न है दोनों शब्दों के योग का। यदि हम 'सर्वोदय' शब्द का षष्ठी तत्पुरुष में विग्रह करें तो "सर्वेषाम् उदय" (सबों का उदय) का बोध होगा, किन्तु तृतीया तत्पुरुष में "सर्वेण उदयः" (अर्थात् सब प्रकार से उदय) अर्थ में आएगा। फिर कर्मधारय समास में "सर्वश्च असौ उदयः" या "सर्वे

१. पाणिनि—अष्टाध्यायी, ३-३-५६

च उदया." के विग्रह से इसका अर्थ "सभी प्रकार के उदय" से होगा। किन्तु फिर बहुव्रीहि में अर्थ बदल जाएगा। समानाधिकरण बहुव्रीहि में "सर्व उदय: यस्मात्" या "सर्वे उदया: यस्मात्' के विग्रह से इसका अर्थ होगा, "सभी तरह के उदय हों जिससे।" व्यधिकरण बहुव्रीहि में इसी का विग्रह "सर्वेषामुदय: यस्मात्" करने से इसका अर्थ 'सबों का उदय हो जिससे' हो जाएगा। यदि हम "सर्वोदय: अस्ति अस्य" से इसका विग्रह करें तो इससे एक भिन्न ही अर्थ का बोध होगा, "समस्त उदयवाले व्यक्ति" का। इस प्रकार विग्रह-भेद से अनेक अर्थ निकल सकते हैं।

२. अर्थ और अर्थ-विश्लेषण :—व्युत्पत्ति और विग्रह से स्पष्ट है कि 'सर्वोदय' एक ऐसा अर्थघन शब्द है जिसका जितना अधिक चिंतन और प्रयोग हम करेंगे, उतना ही अधिक अर्थ उसमें से पाते जायेंगे।[1] रूढ़ अर्थ को छोड़, 'सर्वोदय' शब्द के दो मुख्य अर्थ है—"सबों का उदय"[2] और "सब प्रकार से उदय"।[3]

"सब प्रकार से उदय" का अर्थ है, सर्वांगीण विकास। यह ठीक है कि "सर्वांगीण विकास" की कल्पना दृष्टिभेद से भिन्न-भिन्न होगी; जैसे, विशुद्ध भौतिकवादी के लिए "आवश्यकता की वृद्धि की पूर्त्ति के राग में रत रहना" ही सर्वांगीण विकास माना जाएगा, जबकि विशुद्ध अध्यात्मवादी के लिए ब्रह्म-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। इन दो विचारों को हम क्रमश: अभ्युदय और नि:श्रेयस की संज्ञा दे सकते है। इसलिए यहाँ किसी की उपेक्षा नही, बल्कि दोनो की अपेक्षा है। 'अभ्युदय' से ऐहिक उन्नति का बोध होता है, इसलिए 'उदय' शब्द आया है। सर्वोदय-विचार के अनुसार दैहिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक विकास नि:संशय श्रेष्ठ है, किन्तु नि:श्रेयस के बिना ये सब अधूरे हैं। अत: इन दोनों का समन्वय होना चाहिए।[4] बाहर

---

१. विनोबा भावे—हरिजन-सेवक १७-४-१९४९.

२. मो० क० गाँधी—सर्वोदय, प्रस्तावना, पृ० १ हिन्दी नवजीवन, ९-१२-५६.

३. किशोरलाल मशरूवाला—हरिजन-सेवक, ७२-३-१९४९.

४. विनोबा भावे—साम्यसूत्र (पृ-६) सर्व सेवा संघ १९५९(मेघमाला में विहार करने वाला पक्षी स्वर्ग और पृथ्वी दोनों की तरफ ध्यान देता है, क्योंकि पृथ्वी में परिवार और स्वर्ग में परमात्मा है। जैसे, वर्ड्सवर्थ का "True to the kindred points of heaven and home" (Skylark)

भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना भीतर। प्रेय और श्रेय—दोनों ही हमारे जीवन के लिए अपेक्षित हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि यदि 'सर्वोदय' का अर्थ "सबों का उदय" माना जाए तो सर्वोदय-चेतना की सीमाबद्धता, उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव और उनसे उत्पन्न असंगतियाँ देखने में आवेंगी।[1] अमीरी-गरीबी का मेल-मिलाप कैसे मुमकिन होगा? अँधेरे एवं उजाले का समंजस्य कैसे हो सकता है? अमीरी की शर्त है कि गरीबी बनी रहे। अमीर की अमीरी जितनी बढ़ेगी गरीब को गरीबी उतनी ही बढ़ेगी। अतः वर्ग-समन्वय गगन-विहार जैसा लगता है। साथ-साथ इसमें समाज की ठोस भौतिक बुनियाद की समझदारी का अभाव और चिंतन का अत्यन्त सरलीकरण ही दृष्टिगोचर होता है।

३. सर्वोदय का आदर्श—सर्वोदय उस नये समाज का आदर्श है, जिसमें स्वार्थी हितों से उत्पन्न संघर्ष रहेगा ही नहीं। आज भी वर्ग-संघर्ष एवं हित-संघर्ष के द्वारा क्रांतिकरण को स्वीकार करनेवाले मार्क्सवादी विचारक भी तो अन्त में एक ही "वर्गविहीन" समाज की स्थापना का लक्ष्य रखते हैं, जहाँ जनता मित्रता के साथ रहेगी और जिन्दगी सहयोग पर आधारित होगी। आदर्श साम्यवाद की कल्पना में जिस प्रकार वर्ग-संघर्ष नहीं है, उसी प्रकार सर्वोदय की कल्पना में सबों के विकास की भावात्मक कल्पना मानी गयी है तो क्या गलत? यह ठीक है कि वर्ग-संघर्ष से छुट्टी पाने के लिए मार्क्सवादी वर्ग-निराकरण का तरीका मानते हैं, वहीं सर्वोदयवादी वर्ग-निराकरण के लिए वर्ग-समन्वय चाहते हैं। वर्ग-समन्वय से वर्ग-निराकरण तो होता ही है, साथ-साथ मानवता का भी विकास होता है। यहाँ वर्ग-कलह के बिना वर्ग-निराकरण होता है और प्रतिक्रांति के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता है।[2] बदले के नशे से क्रूरता का उद्भव जहाँ होगा, वहाँ शांति नहीं रहेगी। अमीरी और गरीबी दोनों रोग है। विपुल संग्रह का नाम अमीरी है, और अल्प संग्रह का नाम है गरीबी। अमीर को बड़ी मालकियत का मोह है तो गरीब को छोटी मालकियत की ममता है।[3] पूँजीवाद का यह इन्द्रजाल अमीर और गरीब दोनों पर रंग दिखा रहा है। जब तक यह स्थिति बनी

---

१. बी. टी. रणदिवे—सर्वोदय : एक मूल्यांकन (जनशक्ति प्रकाशन, पटना,—पृ०-५
२. दादा धर्माधिकारी क्रांति का अगला कदम (अ. भा. सर्व सेवा संघ १९५५), पृ०-२६
३. वही-पृ-३४

रहेगी, वर्ग-निराकरण असम्भव होगा। इसीलिए सर्वोदय अमीर से कहता है कि तुम अमीरी छोड़ो और गरीब से कहता है कि तुम गरीबी छोड़ो। मूल है सम्पत्ति के मोह को छोड़ना। सम्पत्ति-संग्रह की होड़ में जो आगे निकल गया वह अमीर बन गया, प्रतियोगिता में जो पिछड़ गया वह गरीब बन गया। जिस दिन गरीब छोटी मालकियत का मोह तोड़ देगा, उसी दिन पूँजीवाद विदा होगा। इसलिए अमीरी अगर गुनाह है तो गरीबी भी गुनाह है। अमीरी शैतानियत लाती है, तो गरीबी हैवानियत। सर्वोदय अमीर की शैतानियत और गरीबी की हैवानियत खत्म करके दोनों की इंसानियत को बचाना और बढ़ाना चाहता है।[१] जिस तरह अमीरी बाँट लेने से कम हो जाएगी उसी प्रकार गरीबी भी बाँट लेने से कम होगी ही। सर्वोदय एक ओर मालकियत को बिखरा कर उत्पादन की प्रेरणा देता है, तो दूसरी ओर आर्थिक विषमता की कीमत पर उत्पादन-वृद्धि के पूँजीवादी मूल्य को स्वीकार नहीं करता। वर्तमान समाज की रचना ही ऐसी गलत है कि पारस्परिक हितों में विरोध का निर्माण होता है।[२] सर्वोदय इस समाज- रचना में क्रांति चाहता है और इसीलिए कौटुम्बिक या पारिवारिक जीवन के मूल्यों का विनियोग सामाजिक जीवन में करने की साधना कर रहा है। परिवार के लोग मानते हैं कि सबका हित हमारा हित है। पारस्परिक हित में वे विरोध नहीं मानते। यदि हम यह समझ पायें कि किसी एक का कल्याण सबों के कल्याण के बिना संभव है ही नहीं[३] तो शायद हम सर्वोदय को भी सही समझ पायें। बिना इस सूत्र को समझे समाजवाद या साम्यवाद की कल्पना व्यर्थ है। फिर समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था भी सदैव दिवास्वप्नवत् रहेगी। इसीलिए सबके सुख के लिए कोशिश करनेवाला होने के कारण विनोबा असम्प्रदायवादी होने का दावा करते हैं। "जो समाज को दो भागों में बाँट देना चाहते हैं, वे अपने को साम्यवादी या और कुछ वादी कह सकते हैं, परन्तु मेरी नम्र सम्मति में वे सब सम्प्रदायवादी ही हैं।[४]

---

१. दादा धर्माधिकारी-क्रांति का अगला कदम, पृ०-३६-३७।

२. शंकरराव देव-सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र (अ० भा० सर्व सेवा संघ, १९५५),

३. रस्किन की पुस्तक Unto this last को इन तीनों बातों में प्रथम, पृ०-१ "व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में निहित है।"—तुलना "I will give unto this last even as unto thee Is it not lawful for me to do what I will with mine own? Is thine eye evil, because I am good?', St Mathew 20

४. विनोबाभावे-हरिजन, १५.११. १९५१।

४. सर्वोदय सिद्धांत—जीव मात्र में सुख की आकांक्षा है।[१] हमारा उदय या हमारा विकास ही हमारा जीवन है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से भी सुख-प्रसार की झलक मिलती है। लगता है मनुष्य का व्यक्तित्व समाज के नानात्व में मिश्रित है। व्यक्तिगत सुख-भाव सामाजिक सुख-भाव से विलग नहीं रह सकता। यह समाज-सम्बन्ध इतना बढ़ा कि निरा स्वार्थ परार्थ की अवहेलना नहीं कर सका।[2] जो भी हो, मनुष्य स्वार्थ से स्वार्थप्रधान परार्थ की ओर और फिर परार्थप्रधान भौतिक सुखनीति की ओर बढ़ा है। यानी स्वार्थ और परार्थ में विरोध हो तो परार्थ को ही प्रधानता दी जाय। यही विश्व-सुख-भावना के विकास की पृष्ठभूमि है जो सर्वोदय का सिद्धान्त-दर्पण है। सर्वोदय की यह भावना भारतीय संस्कृति के मूल में है। "सर्वभूत हिते रताः" "वसुधैव कुटुम्बकम्" या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः" "समं सर्व भूतेषु" आदि उद्गारों में वस्तुतः सर्वोदय की ही भावना है। यही नहीं, उपनिषद् वेदान्त और गीता में "आत्मौपम्य" "साम्य" या "एकत्व" की भावना में सर्वोदय की झलक मिलती है। बौद्ध संस्कृति में भी "संघ" और "बोधिसत्व" की कल्पना का आधार भी सर्वोदय की भावना है। वैदिक एवं प्राचीन बौद्ध वाङ्मय सर्वोदय की भावना से ओतप्रोत हैं। किंतु उनमें सर्वोदय शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। किन्तु दो हजार वर्ष पूर्व के जैनाचार्य श्री समन्तभद्र ने "सर्वोदय तीर्थ" का प्रयोग किया है।[3]

आज जिस अर्थ में सर्वोदय शब्द हमारे सामने प्रस्तुत है, उसका प्रयोग सर्वप्रथम गांधीजी ने रस्किन की "अन टु दिस लास्ट" पुस्तक के संक्षिप्त गुजराती छायानुवाद में किया है। गांधीजी ने लिखा है "इस पुस्तक का उद्देश्य तो सबका उदय यानी उत्कर्ष करने का ही है, अतः मैंने इसका नाम "सर्वोदय" रक्खा है।[४] भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व "स्वराज्य" शब्द का जो महत्त्व था, वही महत्त्व "सर्वोदय" शब्द का आज है। आज सर्वोदय का सम्पूर्ण शास्त्र विकसित हो रहा है। इसकी राजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति, धर्मदर्शन आदि

---

१. महाभारत-शांतिपर्व-सर्वस्य सुख मीप्सितम्।

२. नारायणसिंह—मार्क्स और गांधी का साम्यदर्शन, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग १८८५ शकाब्द) पृ० २१

३ समन्त भद्र—युक्त्यनु शासन (वीर सेवा मंदिर, सरसावा, १६५१) श्लोक-६१।

४. सर्वोदय (नवजीवन, अहमदाबाद) प्रस्तावना।

रहेगी, वर्ग-निराकरण असम्भव होगा। इसीलिए सर्वोदय अमीर से कहता है कि तुम अमीरी छोड़ो और गरीब से कहता है कि तुम गरीबी छोड़ो। मूल है सम्पत्ति के मोह को छोड़ना। सम्पत्ति-संग्रह की होड़ में जो आगे निकल गया वह अमीर बन गया, प्रतियोगिता में जो पिछड़ गया वह गरीब बन गया। जिस दिन गरीब छोटी मालकियत का मोह तोड़ देगा, उसी दिन पूँजीवाद विदा होगा। इसलिए अमीरी अगर गुनाह है तो गरीबी भी गुनाह है। अमीरी शैतानियत लाती है, तो गरीबी हैवानियत। सर्वोदय अमीर की शैतानियत और गरीबी की हैवानियत खत्म करके दोनों की इंसानियत को बचाना और बढ़ाना चाहता है।[१] जिस तरह अमीरी बाँट लेने से कम हो जाएगी उसी प्रकार गरीबी भी बाँट लेने से कम होगी ही। सर्वोदय एक ओर मालकियत को बिखरा कर उत्पादन की प्रेरणा देता है, तो दूसरी ओर आर्थिक विषमता की कीमत पर उत्पादन-वृद्धि के पूँजीवादी मूल्य को स्वीकार नहीं करता। वर्त्तमान समाज की रचना ही ऐसी गलत है कि पारस्परिक हितों में विरोध का निर्माण होता है।[२] सर्वोदय इस समाज- रचना में क्रांति चाहता है और इसीलिए कौटुम्बिक या पारिवारिक जीवन के मूल्यों का विनियोग सामाजिक जीवन में करने की साधना कर रहा है। परिवार के लोग मानते हैं कि सबका हित हमारा हित है। पारस्परिक हित में वे विरोध नहीं मानते। यदि हम यह समझ पायें कि किसी एक का कल्याण सबों के कल्याण के बिना संभव है ही नहीं[३] तो शायद हम सर्वोदय को भी सही समझ पायें। बिना इस सूत्र को समझे समाजवाद या साम्यवाद की कल्पना व्यर्थ है। फिर समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था भी सदैव दिवास्वप्नवत् रहेगी। इसीलिए सबके सुख के लिए कोशिश करनेवाला होने के कारण विनोबा असम्प्रदायवादी होने का दावा करते हैं। "जो समाज को दो भागों में बाँट देना चाहते हैं, वे अपने को साम्यवादी या और कुछ वादी कह सकते हैं, परन्तु मेरी नम्र सम्मति में वे सब सम्प्रदायवादी ही हैं।[४]

---

१. दादा धर्माधिकारी-क्रांति का अगला कदम, पृ०-३६-३७।

२. शंकरराव देव-सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र (अ० भा० सर्व सेवा संघ, १९५५),

३. रस्किन की पुस्तक Unto this last को इन तीनों बातों में प्रथम, पृ०-१ "व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में निहित है।"—तुलना "I will give unto this last even as unto thee Is it not lawful for me to do what I will with mine own ? Is thine eye evil, because I am good ?', St Mathew 20

४. विनोबाभावे-हरिजन, १५.११. १९५१।

४. सर्वोदय सिद्धांत—जीव मात्र में सुख की आकांक्षा है।[१] हमारा उदय या हमारा विकास ही हमारा जीवन है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से भी सुख-प्रसार की झलक मिलती है। लगता है मनुष्य का व्यक्तित्व समाज के नानात्व में मिश्रित है। व्यक्तिगत सुख-भाव सामाजिक सुख-भाव से विलग नहीं रह सकता। यह समाज-सम्बन्ध इतना बढ़ा कि निरा स्वार्थ परार्थ की अवहेलना नहीं कर सका।[२] जो भी हो, मनुष्य स्वार्थ से स्वार्थप्रधान परार्थ की ओर और फिर परार्थप्रधान भौतिक सुखनीति की ओर बढ़ा है। यानी स्वार्थ और परार्थ में विरोध हो तो परार्थ को ही प्रधानता दी जाय। यही विश्व-सुख-भावना के विकास की पृष्ठभूमि है जो सर्वोदय का सिद्धान्त-दर्पण है। सर्वोदय की यह भावना भारतीय संस्कृति के मूल में है। "सर्वभूत हिते रताः" "वसुधैव कुटुम्बकम्" या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः" "समं सर्व भूतेषु" आदि उद्गारों में वस्तुतः सर्वोदय की ही भावना है। यही नहीं, उपनिषद् वेदान्त और गीता में "आत्मौपम्य" "साम्य" या "एकत्व" की भावना में सर्वोदय की झलक मिलती है। बौद्ध संस्कृति में भी "संघ" और "बोधिसत्व" की कल्पना का आधार भी सर्वोदय की भावना है। वैदिक एवं प्राचीन बौद्ध वाङ्मय सर्वोदय की भावना से ओतप्रोत हैं। किंतु उनमें सर्वोदय शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। किन्तु दो हजार वर्ष पूर्व के जैनाचार्य श्री समन्तभद्र ने "सर्वोदय तीर्थ" का प्रयोग किया है।[३]

आज जिस अर्थ में सर्वोदय शब्द हमारे सामने प्रस्तुत है, उसका प्रयोग सर्वप्रथम गांधीजी ने रस्किन की "अन टु दिस लास्ट" पुस्तक के संक्षिप्त गुजराती छायानुवाद में किया है। गांधीजी ने लिखा है "इस पुस्तक का उद्देश्य तो सबका उदय यानी उत्कर्ष करने का ही है, अतः मैंने इसका नाम "सर्वोदय" रक्खा है।[४] भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व "स्वराज्य" शब्द का जो महत्त्व था, वही महत्त्व "सर्वोदय" शब्द का आज है। आज सर्वोदय का सम्पूर्ण शास्त्र विकसित हो रहा है। इसको राजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति, धर्मदर्शन आदि

---

१. महाभारत-शांतिपर्व-सर्वस्य सुख मीप्सितम्।

२. नारायणसिंह—मार्क्स और गांधी का साम्यदर्शन, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन : याग १८८५ शकाब्द) पृ०-२१

३ समन्त भद्र—युक्त्यनु शासन (वीर सेवा मंदिर, सरसावा, १९५१) श्लोक-६१।

४. सर्वोदय (नवजीवन, अहमदाबाद) प्रस्तावना।

सब विकसित हो रहे हैं। सर्वोदय-समाज नामक इस विचार में आस्था रखने वालों का एक आध्यात्मिक भाईचारा भी बना है। सर्व-सेवा-संघ नामक एक संस्था भी है, जो सर्वोदय-समाज के कार्यक्रमों का समन्वय एवं संचालन करता है। हालाँकि "सर्वोदय-समाज" एवं "सर्व-सेवा-संघ" की प्रवृत्तियों को डाक्टर लोहिया[1] मठाधीश गांधीवाद कहते हैं जिसमें उनके विचार से अन्याय के प्रतिकार एव सत्याग्रह की भावना प्राय: दबी हुई दीखती है। इसी तरह सरकारी तंत्रों में यथास्थिति को कायम रखनेवाले सरकारी गांधीवादी भी गांधीवाद से .बहुत दूर हैं। अपने जैसे लोगों को डा० लोहिया ने कुजात गांधीवादी माना है, जिसके विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। शायद वाद के इन्हीं विद्रूपों, इसकी कठोरता एवं कट्टरता, एकांगिता एवं संकुचित सम्प्रदायवादी मनोवृत्ति तथा इसकी अपरिवर्तनशीलता को देखते हुए गांधीजी ने १९३६ ई० में यह घोषणा कर दी—"गांधीवाद नाम की कोई चीज है ही नहीं; हालाँकि उन्होंने इसके पूर्व १९३१ में बलपूर्वक उद्घोष किया था—"गाँधी मर सकता है लेकिन गांधीवाद अमर रहेगा।" गांधीजी मूलत: एक प्रयोगकर्त्ता थे, इसीलिए उन्होंने अपनी आत्मकथा को भी "सत्य के प्रयोग" ही कहा है। उनका जीवन भी सचमुच सत्य और अहिंसा का आचरणगत प्रयोग ही रहा। सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आए हैं। अत: उन्होंने किसी नये तत्व या सिद्धान्त का आविष्कार नहीं किया[2]।

इसीलिए गांधी-विचार और फिर उस पर आधारित सर्वोदय विचार का अर्थ यह माना जाए कि यह कोई एक निश्चित ढांचे में तैयार किया हुआ जीवन का पूरा-पूरा चित्र है, या कोई ऐसा शास्त्र, जिसे देखकर जीवन-सम्बन्धी सभी समस्याओं का समाधान हासिल कर लिया जाय, तो वैसे अर्थ में 'गांधीवाद' या 'सर्वोदयवाद' कहना ठीक नहीं; लेकिन अगर वाद के मानी हों जीवन-व्यवहार के लिए कुछ आधारभूत नैतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना, तो उसे 'वाद' कहा जा सकता है। किशोरलालजी मश्रुवाला[4] "सर्वोदयवाद"

---

१. डा० राममनोहर लोहिया—मार्क्स, गांधी ऐण्ड सोशलिज्म (नव हिन्द, हैदराबाद १९५३), (प्रस्ता० पृ० ६)।

२. सर्व-सेवा--संघ वार्षिक अधिवेशन, १९६९) कार्यवाही (वर्धा, १९६९) पृ. ५४।

३. देखिये मो. क. गाँधी—आत्मकथा, प्रस्तावना पृ. ६।

४. गांधीवाद : समाजवाद, सर्वोदय शीर्षक लेख, पृ. २३।

५. गांधीवाद : समाजवाद पृ. ५०।

६. गांधीवाद : समाजवाद पृ. १८२।

और "सत्याग्रह-मार्ग" शब्दों का प्रयोग करते हैं। कृपलानी जी गांधीवाद की अपेक्षा गांधी-मार्ग या गांधी-दृष्टि कहना पसन्द करते हैं। आचार्य काका-कालेलकर गांधी-मत कहने की अपेक्षा सर्वोदयकारी समाज-व्यवस्था कहना अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु अनुयायियों में हरिभाऊ[1] एवं विरोधियों में यशपाल[2] गांधीवाद शब्द का ही व्यवहार करते हैं। गांधीत्व या गांध्याचार आदि शब्द कम प्रचलित हैं।

सर्वोदय का जीवन-दर्शन

(क) **संघर्ष से सहयोग की ओर**— समाज-विकास का एक प्रमुख सिद्धांत है कि संघर्ष ही विकास को गति देता है। संघर्ष ही जीवन है, संघर्ष ही विकास का रहस्य है। इस जीवन-संग्राम में सबसे अधिक उपयुक्त ही जियेंगे। इसलिए प्राणिमात्र में ही जीने की एक स्पर्द्धा, एक प्रतियोगिता है। इसलिए आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा (Competition) आर्थिक-विकास का अनिवार्य अंग मानी गयी। राजनीतिक क्षेत्र में जनतंत्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्त का ही प्रयोग है। शिक्षा-जगत् में भी प्रतिस्पर्धा को शैक्षिक विकास का माध्यम माना जाता है। यहाँ तक कि विशुद्ध सांस्कृतिक स्तर पर, जैसे खेल-कूद, नृत्य संगीत आदि के विकास के लिए भी प्रतियोगिता आवश्यक मान ली गयी है।

लेकिन संघर्ष को जीवन-विकास एवं समाज-विकास का गतितत्व स्वीकार कर लेने का परिणाम भयंकर हुआ। संघर्ष से संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा से प्रतिस्पर्द्धा ही विकसित हुई और फलस्वरूप आज विरोधवाद, संघर्षवाद और संहारवाद संस्कृति पर हावी है। संघर्ष को यदि जीवन का नियम मान भी लिया जाय, लेकिन यदि यह जीवन-सम्पन्न करने के लिए है, तो इसे संघर्ष भले ही नाम दिया जाय, वास्तव में वह सहयोग ही है। पत्थर टकराये और आग निकली, इस प्रकार हर योग और संयोग को संघर्ष कहते चले जायँ तो वह उचित नहीं होगा। दो वस्तुओं के योग से तीसरी वस्तु यदि निकलती है तो उसे संयोग कहेंगे, संघर्ष नहीं। फिर वस्तुस्थिति और आदर्श में अन्तर होता है। वस्तु-स्थिति जीवन का आदर्श नहीं बन सकती, क्योंकि वस्तुस्थिति की सिद्धान्त की दिशा में प्रगति ही "संस्कृति" है[3]। अतः संघर्ष को यदि जीवन की वास्तविकता

---

१. गांधीवाद समाजवाद पृ. ३१।

२. रामराज्य की कथा (लखनऊ, १९५०), पृ. २१-२२।

३. दादा धर्माधिकारी—सर्वोदय दर्शन (सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, १९६५ चतुर्थ संकरण पृ. ३०।

के रूप में स्वीकार भी कर लिया जाय, तो इसे हम आदर्श कदापि नहीं मान सकते। प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के आधार पर कोई स्वस्थ जीवन-दर्शन एवं समाज-रचना संभव नहीं। वास्तव में प्रतिस्पर्द्धा की भावना ही एक अस्वस्थ भावना है, जिसे हम मत्स्यन्याय या जंगली नियम कह सकते हैं। डार्विन ने कहा कि जो सबसे अधिक क्षम है, वही जीवन-संग्राम में बचेगा, लेकिन मनुष्य बाघ, सिंह, हाथी-घोड़े के सामने तो एक अत्यन्त अक्षम जीव है। इसलिए हक्सले ने "दूसरों को खाकर जिओ" के बदले "जिओ और जीने दो" का सिद्धान्त दिया। सबसे क्षम ही नहीं जीता, बल्कि जो दूसरे को जीने देते हैं, वे ही जीते हैं। सर्वोदय हक्सले से भी एक कदम आगे जाकर कहता है— "जिलाने के लिए जिओ"। यह सामाजिकता है। पता नहीं हम इसे वैज्ञानिक मानेंगे या अवैज्ञानिक। यदि हम अक्षम को क्षम, विपन्न को सम्पन्न और असमर्थ को समर्थ बनाने का प्रयास नहीं करते हैं तो हमारे लिए समाजवाद, साम्यवाद या सभ्यता और संस्कृति आदि की बातें करना प्रवंचना मात्र है।

फिर मनुष्य की योग्यता उसकी पशुता मे नहीं, बल्कि उसकी आध्यात्मिक शक्ति, उसकी सर्वभूतहित साधने की आकांक्षा में है। मानव-समाज में पशु-बल नहीं, नीति एवं धर्म-बल का महत्व है। मानव माँ की कोख से जन्मा, उसकी गोद में ही पला, पिता का उसे वात्सल्य मिला और पड़ोसी का सहयोग। आर्थिक विकास का आधार प्रतिद्वन्द्विता है, यह तो पूँजीवादी चिंतन-विश्लेषण है, समाजवादी अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहकार ही आता है। राजनीति यदि भ्रातृत्व को भूलकर संघर्ष की दासी बन जायगी तो वह भ्रातृयुद्ध एवं गृहयुद्ध का रंगमंच बन जायगी। शिक्षा और संस्कृति, विज्ञान और उद्योग, यानी मानवीय सभ्यता के सभी अलंकरण परस्पर सहकार के ही फल हैं। प्रेम और सहयोग केवल नैतिक दृष्टि से ही आवश्यक नहीं, वह तो प्राणिशास्त्र का बुनियादी सिद्धान्त है। विकास-क्रम में वे ही प्राणी टिके हैं, जिनमें परस्पर सहयोग है। ऐशले मांटेग्यू ने अपनी पुस्तक (On Being Human) में बताया है कि "संघर्ष या होड़ नहीं, सहयोग ही प्रकृति का सिद्धान्त है।" वीलर ने भी (Social life of Insects मे) बताया है कि प्रकृति में सबसे प्रबल प्रवृत्ति पायी गयी है सह-जीवन, सहयोग की। सह-अस्तित्व प्रकृति का नियम है। इसीलिए यदि हम डार्विन के अनुसार भी योग्यतम की विजय मानें तो योग्यतम वह वर्ग या समुदाय माना जायगा जो सहयोग की कला जानता हो।

(ख) सहजीवन का सिद्धान्त :—यह ठीक है कि सभ्यता के आरम्भिक चरणों में मनुष्य की प्राथमिक सुख-भावना पशुओं के समान केवल ऐन्द्रिक विषय-भोग के लिए ही संकुचित रूप से रही होगी और वह मूलतः स्वकेन्द्रित भी रही होगी। किन्तु चूँकि मनुष्य का व्यक्तित्व समाज के नानात्व में मिश्रित है, अतः व्यक्तिगत सुख-भाव सामाजिक सुख-भाव से अलग नहीं रह सकता। फिर भी अन्तर का व्यक्तिवाद इतना प्रबल है कि हम यह भूल कर, समष्टि को भुलाकर, 'अहम्' के व्यामोह में पड़ जाते हैं। यह नितान्त भ्रामक विचार है। विज्ञान का भी नियम है कि यदि कोई वस्तु बिलकुल अपने में सीधी जायगी तो फिर वह जरूर टेढ़ी होकर गिरेगी। इसीको विज्ञान में वक्रता-नियम (Law of Curvature) कहते हैं। मनोविज्ञान में संसूचन, सहानुभूति एवं अनुबंध-प्रतिवर्त्त यही बताता है कि हम दुख और सुख बाँट सकते हैं। दुःख हम जब बाँट लेते हैं तो दुःख आधा हो जाता है और जब सुख बाँट लेते हैं तो वह दुगुना हो जाता है। अतः जिस प्रकार विज्ञान में व्यक्तिवाद घातक है, वैसे ही मनोविज्ञान में भी है। समाज-विकास की धारा में भी सहजीवन श्रेयस्कर है। जो जातियाँ या संस्कृतियाँ व्यक्तिवाद पर आधारित रहीं, उनमें परस्पर संघर्ष इतने उभरे कि वे टूटीं या टूट रही हैं। इसके विपरीत भारत की आदिवासी या अमरीका की रेड इंडियन सभ्यताएँ आज भी सजीव, स्फूर्तिमान् एवं संगठित हैं। प्राचीन भारत में लिच्छवियों को गणतंत्र में सहजीवन पर चलने के कारण मगध राजवंश से भी श्रेष्ठ माना जाता था। आधुनिक युग में भी अमरीकी सभ्यता मुश्किल से १५० साल चलने के बाद टूटती दिखायी पड़ती है, जबकि वहाँ की रेड इंडियन जाति स्पेन, फ्रेंच, अँगरेज एवं अमरीकी लोगों के सतत दुःसह उत्पीड़न के बाद भी निर्मूलित नहीं हो सकी है। समाजवादी देशों में भी रूस और चीन व्यक्तिवाद के कारण ही आमने-सामने शत्रुवत् खड़े हैं। व्यक्तिवाद के साथ पूँजीवाद चल सकता है लेकिन समाजवाद या साम्यवाद नहीं चल सकता। नैतिक-जीवन में सह-जीवन अपने आप में बड़ा मूल्य है। नैतिकता का यह राजनियम कि 'जो व्यवहार हम खुद चाहते हैं, वही दूसरों से भी करें,'[1] सचमुच सहजीवन पर ही अवलम्बित है। आध्यात्मिक जीवन में भी सामूहिक साधना, सामूहिक समाधि एवं सामूहिक मोक्ष की भावनाएँ चल पड़ी हैं। जो धर्म असामाजिक

१. मनमोहन चौधरी, भूदानयज्ञ साप्ताहिक, ३-८-१९५६

है, वह निकम्मा माना जाता है। इसलिए अब भक्ति और मुक्ति भी सामूहिक होगी। अब भक्ति का रूपान्तर सर्वोदय में होगा। वास्तव में मोक्ष अकेले पाने की वस्तु है नहीं। "मैं" के आते ही "मोक्ष" भाग जाता है।[1] परमार्थ-साधना में भी यह व्यक्तिमत्ता और संकुचितता, यह व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद नहीं चल सकता। इसलिए अब "समं सर्वेषु भूतेषु" की भावना से साम्ययोग रचना होगा।

(ग) साम्ययोग :- यह ठीक है कि व्यक्ति का कल्याण समाज के कल्याण में निहित है, अतः सहजीवन कोई परमार्थ का ही सूत्र नहीं, बल्कि जीवन का आधार है। लेकिन सहजीवन की साधना साम्ययोग के बिना संभव नहीं। समाज एक व्यूह के समान है। इसमें विभिन्न प्रकार के व्यक्ति अपनी अभिरुचियों एवं कुशलताओं से समानरूप इसके रक्षण में लगे हैं। अतः सबों का मूल्य भी समान ही होगा। समाज के लिए शिक्षण और रक्षण, कृषि-वाणिज्य या सेवा अपने-अपने स्थान पर सब समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए सर्वोदय-विचार की यह मान्यता है कि "चाहे वकील का काम हो या नाई का, दोनों का मूल्य बराबर है।" इसका एक कारण यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है। फिर आध्यात्मिक दृष्टि से सबों की आत्मा एक ही है, भले ही शरीर और देह अलग हों। सब ईश्वर की ही संतान हैं। आर्थिक साम्य हरएक व्यवहार में सहायक होता है। सामाजिक साम्य के आधार पर समाज में व्यवस्था रहती है। मानसिक साम्य से मन का नियंत्रण होता है, लेकिन परम साम्य जीवन का सार-सर्वस्व है। मानसिक-साम्य एवं परम-साम्य प्राप्ति के लिये भी स्थूल जीवन के आर्थिक एवं सामाजिक-साम्य की साधना अपेक्षित है। विषमता और विद्वेष की प्रेरणा मानव समाज को सीधे अणु-युद्ध की श्मशान भूमि तक पहुंचा देगी।[2] इसलिए सर्वोदय विचार में मस्तिष्क से काम करने वाले एक वकील की कीमत उतनी ही है जितना हाथ से काम करने वाले एक बढ़ई की।[3] बल्कि बुद्धिजीवी और श्रमजीवी का यह प्रतिष्ठा-भेद ही भ्रामक है। सर्वोदय-दृष्टि से मजदूर-किसान या कारीगर का जीवन

---

१. मगध के सिक्के पर लिच्छवी दौहित्रः लिखा रहता था।

२. विनोबा भावे, आत्मज्ञान और विज्ञान (सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, १९६४), पृ-७१

३. रस्किन, अंटू दिस लास्ट का दूसरा सिद्धान्त।

ही सच्चा एवं सर्वोत्कृष्ट है।[१] "पसीना बहाकर कमाना और खाना" वस्तुतः गीता के अनुसार यज्ञ की प्रक्रिया है। यदि कायिक-श्रम के निरपवाद कानून को सब लोग मानें तो ऊँच-नीच का भेद ही मिट जायगा और वर्ण-व्यवस्था भी दोष-मुक्त होगी। श्रमविभाजन के नाम पर श्रमजीवी और बुद्धि-जीवी, ऐसे दो वर्गों में समाज का अप्राकृतिक विभाजन अत्यन्त खतरनाक है।[४] श्रम करना मानव-जीवन का एक आवश्यक नियम है। यहाँ तक कि करोड़पति को भी उत्पादक श्रम के लिए नहीं लेकिन कसरत के लिए हवाखोरी आदि करना ही पड़ता है।[६] जब हममें सबको हाथ-पाँव और बुद्धि है तो हमें दोनों प्रकार के काम—शारीरिक और मानसिक करने ही चाहिए और फिर शारीरिक एवं मानसिक काम के मूल्य में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। इसलिए सर्वोदय विचार में आर्थिक और सामाजिक-साम्य की साधना अधिक फलवती होगी। व्यावहारिक दृष्टि से जीवन का आर्थिक श्रम सबसे आवश्यक होता है। लेकिन आज भी साम्यवादी देशों में श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के बीच वेतन की भारी विषमता बनी है, अभी भी मजदूर एवं व्यवस्थापक वर्ग नाम से दो वर्ग हैं ही। यही कारण है कि वर्ग-निराकरण कठिन पड़ रहा है। श्रम-निष्ठा न केवल आर्थिक एवं सामाजिक साम्य का मार्ग प्रशस्त करता है, बल्कि यह एक स्वावलम्बी, सत्याग्रही, रचनात्मक समाज-निर्माण में सहायक होता है। साथ-साथ इसमें उच्च से उच्च संस्कृति के सभी गुण मिले हैं। श्रम के आधार पर ही चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था विकसित होती रही और इसी के ऊपर आश्रम-व्यवस्था भी बनायी गयी। श्रम-निष्ठा के लोप से ही श्रम के साथ विवशता जुड़ गयी है जो एक सामाजिक द्रोह है।

---

१. विनोबा भावे. साम्य सूत्र (सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, १९५९), पृ-९.

२. अच्युत पटवर्द्धन—साम्ययोग का रेखाचित्र—ले० विमला (सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, १९५५, प्रस्तावना।

३, रस्किन के अनुसार दूसरा यंत्र (Unto this last).

३. रस्किन के अनुसार तीसरा यंत्र (Unto this last).

४ गीता ३-९

५. चारु चन्द्र भण्डारी—भूदान यज्ञ क्या और क्यों? (सर्व सेवा-संघ-प्रकाशन, १९५६)

६. मो क. गांधी—मंगल प्रभात (नवजीवन प्रकाशन, १९५८),

७. शिवाजी भावे-भूमिदान (सर्व-सेवा-सघ-प्रकाशन, १९५५),

(घ) तीसरी शक्ति :—मानव-समाज के परिवर्त्तन, पुनर्निर्माण एवं धारण करने के लिए कई प्रकार की शक्तियों का उपयोग किया गया है। विश्व के महान धर्मों ने अपने-अपने समाज की रचना करने के प्रयास अहिंसा, प्रेम और करुणा के आधार पर किया। समाजगत शोषण, उत्पीड़न, विषमता एवं अन्य सामजिक-आर्थिक अन्याय के उन्मूलन के लिए संयम, अपरिग्रह, त्याग, तृष्णा-क्षय, अलोभ आदि का उपदेश दिया। लेकिन समाज के अन्तस् से हिंसा निकली नहीं। आध्यात्मिक-उन्नयन की पराकाष्ठा के कारण ही मानव को निर्वाण और मोक्ष आदि के दिव्य उपकरण मिले, लेकिन ये सब व्यक्तिगत अभ्युत्थान के लिए भले ही फलदायी हुए हों, सामाजिक-जीवन अप्रभावित रहा। इसके मूल तीन कारण हैं—

१. भक्ति या मुक्ति, साधना या समाधि, धर्म और नैतिकता मुख्यतः व्यक्तिगत साधना की वस्तुएँ मानी गयी, इसलिए अहिंसा और प्रेम का संगठन नहीं हो सका।

२. अपरिग्रह और अस्तेय, त्याग और संयम आदि महात्माओं के प्रवचन मात्र रह गये, किन्तु धर्म की संगठित संस्थाएँ समाज के शासक एवं शोषक-वर्ग की अप्रसन्नता एवं संभाव्य विरोध का ध्यान रख, उन गुणों को समाज में प्रवेश नहीं दे सकीं। इसलिए अद्वैत के साथ जातिभेद, ईश्वर-प्रेम के साथ कांचन-प्रेम, साम्ययोग के साथ शोषण आदि चलते रहे।

३. धर्म भी साम्प्रदायिक हो गए और धर्म-प्रसार के लोभ से ही राज्यधर्म बन गए[१] जिससे वे राज्य-शासन की संगठित हिंसा तथा दंडशक्ति के पोषक बन गये।

जो भी हो, समाज परिवर्त्तन के लिये हिंसा-शक्ति का विकास रुका रहा। राज्य की दंडशक्ति भी प्रकट एवं स्थूल हिंसा शक्ति का ही प्रच्छन्न रूप है। लेकिन आज का मानव इतना चेतन है कि उसे हिंसा-शक्ति या दण्ड-शक्ति के के द्वारा समाज-रचना या समाज-परिवर्त्तन से संतोष नहीं। तरुणों का जागतिक असतोष एवं विक्षोभ, लोकतन्त्र में फटती हुई दरारें एवं साम्यवाद का विदीर्ण वक्षःस्थल आज हिंसा का विकल्प ढूढ़ रहे हैं। यह स्पष्ट है कि अतिहिंसा के इस युग में हिंसा शक्ति पर हमारी आस्था ने मानव-समाज को एक ओर यदि आणविक-सर्वनाश के समीप पहुँचा दिया है तो दूसरी ओर अन्यत्र संगठित एवं हिंसा-शक्ति से सर्व-सम्पन्न आधुनिक राज्य शासन के नीचे

१. जयप्रकाश नारायण (प्रस्तावना, पृ० ७-८) विनोबा भावे-तीसरी शक्ति (सर्वसेवा संघ-प्रकाशन, १९६९)

मानव अपनी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता, अपना व्यक्तित्व और अपनी शांति सब कुछ खो चुका है। सामाजिक-समता और आर्थिक न्याय भी कहाँ मिल पाता है? अमरीकी लोकतन्त्र में भी धनी-गरीब, गोरे-काले का भेद बना हुआ है, ब्रिटेन भी इसका अपवाद नहीं। ५२ वर्षों के बाद भी साम्यवादी रूस भी न अपने खेत किसानों को, न कारखाने-मजदूरों को, न विश्वविद्यालय-शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को समता सौंप सका है। लोकतांत्रिक समाजवादी शासन-व्यवस्था में भी अर्थ के उत्पादन एवं साधनों का राष्ट्रीयकरण भले ही हो गया हो, लेकिन वहाँ भी विषमता विद्यमान है। सत्ता श्रमजीवियों के पास नहीं है। जनता के हाथ में निर्णय, सत्ता एवं सम्पत्ति भी नहीं आयी है।[1] इसीलिए यदि एक ओर हिंसा का विकल्प चाहिए तो दूसरी ओर अहिंसा का संगठन। इस अणुयुग में हिंसा गतितत्व और शस्त्रों का सांस्कृतिक मूल्य ही समाप्त हो गया, क्योंकि हिंसा का अर्थ है सर्वनाश। लेकिन अहिंसा को भी व्यक्तिगत आचरण की मर्यादा में सम्प्रदायों के निष्प्राण कर्मकांडों में बन्द नहीं रखा जा सकता है। इसे हमें समाज-व्यवहार में प्रतिष्ठित करना होगा और समाज-परिवर्त्तन का माध्यम बनाना होगा। फिर, हिंसा की परिभाषा में भी नावीन्य लाना होगा। किसी पर छुरे या बन्दूक से प्रहार करना ही हिंसा नहीं, हिंसा तो हर शोषण पर विषमता और हर अन्याय में समायी हुई है। समाज के लिए प्रत्यक्ष हिंसा से भी अप्रत्यक्ष हिंसा अधिक भयकर है—यह सत्य हमें समझना होगा। उदाहरणस्वरूप, आज की आर्थिक-व्यवस्था, सामाजिक-संस्थिति, राजनीति और शिक्षानीति भी हिंसा पर आधारित है। राज्य के पास भी जो दण्डशक्ति है, वह भी हिंसा-शक्ति ही है। इस दण्डशक्ति के आधार पर किसी स्थायी समाज-रचना या समाज-परिवर्त्तन संभव नहीं। दण्डशक्ति द्वारा हम किसीको निवृत्त कर सकते हैं, प्रवृत्त नहीं कर सकते हैं। इसके लिए तो विचार-क्रांति करनी होगी, साथ-साथ जनता के अभिक्रम एवं कर्तृत्व-शक्ति को जागृत[2] करना होगा। हिंसाशक्ति एवं दण्डशक्ति से भिन्न जनता की अहिंसक जनशक्ति को ही तीसरी शक्ति कहा गया है। यही लोकनीति का भी आधार है। आज की राजनीति

---

१. वही पृष्ठ-९.

२. विनोबा भावे—तीसरी शक्ति—अध्याय-२ "दण्ड शक्ति से भिन्न अहिंसक शक्ति"

वस्तुतः हिंसाशक्ति पर ही आश्रित है। उसे सच्ची जनशक्ति का अधिष्ठान चाहिए। इसके लिए राजसत्ता भी किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों या पार्टी के नाम पर बहुसंख्यक लोगों के हाथ में नहीं रहकर सबों के हाथ में हो।[1] आज समस्त जनता का शासन कहीं नहीं दीखता है। पार्टी के नाम पर पार्टी के नेताओं की तानाशाही को कायम रखने के लिए आज सभी सरकारों को, चाहे वे साम्यवादी सरकारें हों या तथा-कथित जनतांत्रिक सरकारें, सबों को राज्य की दण्डशक्ति और हिंसाशक्ति पर ही आश्रित रहना पड़ता है। इसलिए वस्तुतः शासन 'लोक का' 'लोक के द्वारा' लोक के लिए' नहीं, बल्कि 'लोक के ऊपर' होता है। इस लोकनीति[2] का आधार लोक होगा। लोक का स्वावलम्बन, लोक का अभिक्रम, लोक की शुद्धि और लोक की शक्ति। मंगलकारी राज्य की कल्पना कर हमने लोक-शक्ति को खोया है। राज्य की अधिकार-वृद्धि की आकांक्षा और प्रयास व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का शत्रु होता है। अतः सच्चे लोकतन्त्र में आर्थिक लोकतन्त्र भी आवश्यक है, जिसमें विकेन्द्रीकरण एवं आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय आदि का अधिकार मजदूरों को रहना चाहिए। उसी प्रकार प्रतिनिधि-सत्तात्मक पद्धति की राजनीति भी लोकशक्ति को नहीं बढ़ा सकती, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष सहयोग कम है। इसलिये योगदानात्मक जनतन्त्र (Participating democracy) लाना होगा।

(च) क्रांति-विज्ञान—सर्वोदय-विचार पर यह एक सामान्य आरोप है कि यह अपने काल्पनिक दृष्टिकोण के कारण संघर्ष की स्पष्ट स्वीकृति करता है तथा कोई वैज्ञानिक रचनात्मक कार्यपद्धति तैयार नहीं करता जिससे अपने सिद्धान्त और स्वप्न को जमीन पर उतार सके।[3] ऐसे आलोचकों का यह मानना है कि "सर्वोदयवादी" स्थापित एवं निहित स्वार्थ के परिवर्त्तन के द्वारा ही समाज-परिवर्त्तन करना चाहते हैं और इस

---

१. विनोबा भावे—स्वराज्य शक्ति or The Principles of a Non-violent Politicel order (सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, १९५५), प-१६-१८

२. विनोबा भावे—Democratic Values (लोकनीति), (सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, १९६२), अध्याय १, १,

३. जयप्रकाश नारायण—लोक स्वराज्य (सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन), १-११

प्रकार गाड़ी को घोड़े के आगे जोतते हैं।''[1] वास्तविकता तो यह है कि सर्वोदय-विचार के अग्रणी गांधीजी का जीवन संघर्ष[2] का पर्याय रहा है। अहिंसा, एक सामाजिक मूल्य और एक व्रत के रूप में ही नहीं, बल्कि प्रतिकार के एक साधन, जिसे हम 'सत्याग्रह' कहते हैं, के रूप में उपस्थित हुई, जिसके द्वारा न केवल भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम में सफलता मिली, बल्कि अस्पृश्यता-निवारण, शराब-बंदी आदि कितने ही सामाजिक-अन्याय एवं मिलों के बहिष्कार तथा खादी-ग्रामोद्योग के द्वारा आर्थिक अन्याय का बहुत सफल मुकाबला किया गया। अन्याय को तो गाँधी सह ही नहीं सकते, इसलिए उन्होंने जहाँ एवं जिस रूप में अन्याय देखा, उसके खिलाफ संघर्ष छेड़ा।[3] यह अलग बात है कि उनका संघर्ष किस हद तक सफल रहा या किस हद तक वैज्ञानिक था।

आज की विश्व-परिस्थिति और अन्तर्राष्ट्रीय आणविक संदर्भ में अहिंसा के सिवाय दूसरा साधन ही नहीं है। निःशस्त्रीकरण आज जीवन की आवश्यकता बन गया है, क्योंकि शस्त्र की वीरता और दुर्बलों के संरक्षण दोनों मूल्य तो समाप्त हो ही गये हैं, साथ-साथ उनका मुक्त-प्रयोग सर्वनाश के अतिरिक्त दूसरा कुछ उपस्थित भी नहीं कर सकता है। अतः अहिंसा की क्रांति ही व्यावहारिक है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यदि हम एक समय, शांतिमय समाज बनना चाहते हैं तो इसकेलिए हमारा साधन भी स्नेहमूलक और स्नेहप्रवर्तक होना चाहिये। इसीको साध्य-साधन-साधर्म्य या दर्शन की भाषा में 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। घृणा, विद्वेष और हिंसा के द्वारा कभी भी प्रेम का समाज नहीं बन सकता, जैसे हजारों मन बालू से भी छटांक भर तेल नहीं निकल सकता है।

इतिहास इसका साक्षी है कि क्रांति जब हिंसा के वाहन पर चढ़ कर आयी तो वह 'जनक्रांति' नहीं बन सकी। वह तो सिपहसालारों के हाथ की तलवार ही बन पायी। फ्रांस में १४ वें लुई को तो हिंसा की काली निगल गयी

---

१. वी० टी० रणदिवे—सर्वोदय: एक मूल्यांकन पृ०—२०

२ ई० एम० एस० नम्बूदीपाद—दी महात्मा ऐन्ड दी इज्मर (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस) १९५९ द्वि० स०, पृ—११७

३. हीरेन मुखर्जी —गाँधीजी: ए स्टडी (नेशनल बुक ऐजेंसी, कलकत्ता, १९५८) देखिये अध्याय—७ से १०

किन्तु इससे नेपोलियन का राक्षस निकला। इंगलैंड में चार्ल्स प्रथम तो मारा गया, लेकिन क्रामवेल जैसा निरंकुश शासक रक्तबीज बनकर आया। रूस में जार के मजार से ही स्टालिन निकला जिसकी निरंकुशता का विरोध ख्रुश्चेव को भी करना पड़ा।

सच पूछा जाय तो क्रांति के साथ हिंसा का मेल बैठ ही नहीं सकता। क्रांति यदि हमारी मान्यताओं, आदर्शों में एव आकांक्षाओं में आधारभूत परिवर्तन करने को माना जाय तो फिर यह बल-प्रयोग या हिंसा से तो असंभव ही है। हम हृदय को संस्पर्श कर किसी का मत बदल सकते हैं, फिर विचार और तर्क से उसे समझा कर उसकी मान्यताओं और मूल्यों में परिवर्तन कर सकते हैं। किन्तु यह हिंसा से असम्भव है। इसीलिए जहां जितना ही अधिक दबाव होगा, हिंसा होगी, वहां उतनी ही कम क्रांति होगी।

इसीलिए सर्वोदय-विचार में त्याग के द्वारा हृदय-परिवर्तन, तर्क के द्वारा विचार-परिवर्तन, शिक्षा के द्वारा सरकार-परिवर्त्तन एवं पुरुषार्थ के के द्वारा स्थिति-परिवर्तन के माध्यम से क्रांति करने पर जोर दिया जाता है। ऐसी क्रांति पूर्ण और स्थायी क्रांति होगी जिसमें प्रतिक्रांति के लिये स्थान नहीं रह जाता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहती है। समाज में प्रेम एवं सहयोग का स्वस्थ वातावरण रहता है। साथ-साथ ऐसी अहिंसक क्रांति में बूढ़े-बच्चे, स्त्री-पुरुष सबों का सुलभ सहयोग मिलता है।

इसीलिए सत्याग्रह संघर्ष की अस्वीकृति नहीं, बल्कि संघर्ष को और वैज्ञानिक, और अधिक व्यावहारिक एवं मानवीय बनाने का उपकरण है। इसीलिए आज संसद और सशस्त्र विद्रोह, बन्दूक और वोट के बीच चुनाव नहीं करना है। आज तो हमें सत्याग्रह और बन्दूक के बीच चुनाव करना है, क्योंकि सत्याग्रह स्वयं एक विद्रोह है, लेकिन हिंसा-रहित।

सर्वोदय का भविष्य :—हम जल, वायु, गैस, द्रव्य अणु आदि को प्रयोगशालाओं में रखकर उसके परिणाम को जान सकते हैं, किन्तु हम मानव-समाज को किसी प्रयोगशाला में रखकर इतिहास के सिद्धान्तों की परीक्षा नहीं कर सकते। जब मानव का इतिहास-विज्ञान ही इतना कठिन है तो फिर भविष्य-विज्ञान तो जाने और क्या होगा। मानवता के भविष्य में भविष्य की मानवता छिपी है। मानव-जाति का भविष्य एकता में विज्ञान और आत्मज्ञान, दोनों उस दिशा की ओर संकेत करते हैं। जो कुछ भी इसके रास्ते में बाधक रूप खड़े होंगे—राष्ट्र, जाति, यहां तक कि धर्म—यदि वह विभाजन करने वाला

१. एस० ए० दांगे—महात्मा गांधी ऐण्ड हिस्ट्री (कम्यूनिष्ट पार्टी पब्लिकेशन, १९६८)

है, तो उनको खतम करना होगा।"[1] सर्वोदय कोई सम्प्रदाय नहीं। वाद तो यह हो ही नहीं सकता, यह तो एक विश्ववृत्ति है। यह विश्वधर्म का अरुणोदय है। यह ठीक है कि सर्वोदय भी अंतिम विचार नहीं है, लेकिन काफी अधिक विचार है, क्योंकि हमने अपने रथ में एक ओर दर्शन के श्यामकर्ण और दूसरी ओर विज्ञान के उच्चैःश्रवा को जोत लिया है।[2] दर्शन और विज्ञान के समन्वय के साथ-साथ इसमें जीवन-परिवर्तन और समाज-परिवर्तन की आचारात्मक प्रक्रिया का भी अन्तर्भाव है। अत्यधिक यौगिक प्रगति ने जो समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं, उनके निराकरण के लिए विश्व को एक नये चौथे नैतिक आयतन (इथीकल फोर्थ डायमेंशन) की आवश्यकता है। सर्वोदय को लोग अच्छा किन्तु अव्यावहारिक सिद्धान्त मानते हैं। वे शायद भूल जाते हैं कि आजकी समस्याओं के निराकरण के लिए नैतिकता मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है।[3]

यदि प्रत्येक आदर्श को हम यह कह कर ठुकरा दें कि यह हमारे लिए बहुत कठिन है तो हम स्वयं की भी समस्त भौतिक और प्रगतिशील तत्वों की आलोचना करते जायँगे।[4] लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि मानव तभी तक जी सकता है जब तक उसको अपने में आस्था हो। इसका अर्थ हुआ कि अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए नैतिक साधनों का उपयोग ही मानव की मुक्ति का रहस्य[5] एवं भविष्य की मानवता का आधार है। यही मानव का फोर्थ डायमेन्शन या नयी समाज-रचना का नया आयाम है।

ज्यों-ज्यों अहिंसा का विश्वीकरण हो रहा है, ज्यों-ज्यों अहिंसात्मक प्रतिकार का उपयोग बढ़ रहा है और ज्यों-ज्यों विश्वनागरिकता, विश्वधर्म एवं विश्वराज्य की बातें बढ़ रही हैं, त्यों-त्यों सर्वोदय का भविष्य उज्वल से उज्वलतर दिखाई पड़ रहा है।

☆

---

1. जयप्रकाश नारायण, भूदानयज्ञ साप्ताहिक, १०-११-१९६७
2. दादा धर्माधिकारी, भूदान यज्ञ साप्ताहिक, १५-२-१९६७
3. पं० जवाहर लाल नेहरू साप्ताहिक, १३-१२-१९५७
4. इथेल मैनिन का लेख "क्या गाँधीजी की हार नहीं हुई?" गांधीजी के १० वर्ष सम्पादक डा० एस० राधाकृष्णन्।
5. गाँधी जी—डा० एम० दी इमैनिसीपेशन आफ मैन (गाँधीशताब्दी समिति दिल्ली, १९६०' श्रीमती सेटानन का लेख पृ—३२

सर्वोदय

आचार्य कार्यानन्द शर्मा

सर्वोदय का अर्थ—'सर्वोदय' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—'सर्व + उदय' जिसका सामान्य अर्थ होता है सबका उदय।

बहुत से विद्वानों की आपत्ति है कि सर्वोदय प्रत्यय काल्पनिक है। विभिन्न वृत्तियों और प्रकृतियों के मनुष्य इस संसार में हैं जिनमें हित-विरोध हैं। एक के हितों की रक्षा में दूसरे का अहित निहित है। ऐसी हालत में सर्वोदय एक अर्थहीन प्रत्यय से अधिक और कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। साधु और चोर, सज्जन और दुर्जन, धनी और निर्धन, शासक और शासित, शोषक और शोषित, पूंजीपति और मजदूर—इन सारे वर्गों में हितों का विरोध है। फिर इन सबका उत्थान, विकास या उदय कैसे संभव है?

यों तो 'सर्वोदय' शब्द बहुत प्राचीन है। किन्तु रस्किन ने अन्त्योदय की कल्पना की तथा गांधी ने इसी अन्त्योदय की साधना के लिए 'सर्वोदय' शब्द को स्वीकार कर उसमें नये मूल्यों से मंडित क्रांतिकारी अर्थों की स्थापना की।

महात्मा गांधी के अनुसार 'सर्वोदय' का अर्थ समाज के सभी अंगों का सर्वतोमुखी या समग्र विकास या उदय है। सर्वोदय की कल्पना में व्यक्ति और समाज दोनों का सर्वांगीण उदय समाविष्ट है।

आज समाज में किसी का उदय नहीं हो रहा है। सत्य तो यह है कि सभी का अस्त ही हो रहा है। सर्वोदय खंडित व्यक्तित्व की कल्पना नहीं करता, व्यक्तित्व तो समग्र होता है, अतः समग्र व्यक्तित्व के विकास या उदय का अर्थ है 'व्यक्ति का भौतिक और आध्यात्मिक विकास।' दूसरे शब्दों में जब व्यक्तित्व का आर्थिक-सामाजिक और नैतिक उदय होता है, तभी उसका आत्मिक उदय भी संभव है और जब उसका आत्मिक उदय हो जाता है तो व्यक्ति के हित-विरोध समाप्त हो जाते हैं। यही सर्वोदय है।

आज यदि किसी निर्धन के घर में चूल्हा नहीं जल रहा है तो किसी धनी के यहाँ ईंधन को अतिशयता के कारण उस पर की रोटियाँ जल रही हैं। यदि कोई निर्धन रोटी के अभाव में चोरी करता है और इस तरह उसका नैतिक पतन हो गया है, तो दूसरी ओर कोई धनी व्यक्ति अपनी परिग्रह-वृत्ति के कारण निन्यानवे को सौ बनाने की धुन में समाज के विवश वर्ग का शोषण कर रहा है, और इस तरह उसका भी नैतिक पतन ही हुआ है।

आज की परिस्थिति सबके लिये अस्त या पतन की ही परिस्थिति है। अतः सर्वोदय सबके लिये आवश्यक है।

सच तो यह है कि किसी का भी उदय अलग-अलग नहीं हो सकता। या तो सबका उदय होगा अथवा सबका अस्त।

गाँधीजी ने सर्वोदय के सिद्धांत को तीन बिन्दुओं में रखा था। वे लिखते हैं, "सर्वोदय के सिद्धांत को मैं इस प्रकार समझता हूँ—(१) सबके भले में अपना भला है (२) वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एक सा है। (३) सादा, मजदूर और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख और सर्वोदय—अहिंसा की साधना करनेवाला सर्वोदयी सत्याग्रही कभी भी उपयोगितावादी सूत्र "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" स्वीकार नहीं कर सकता। वह तो **सर्वभूतहिताय या सर्वभूतहिते रतः** की वृत्ति से इसी आदर्श की प्राप्ति में जिन्दगी से मौत तक लगा रहेगा। इस प्रकार वह जीयेगा कि दूसरे जी सकें और वह मरेगा भी इसीलिये कि दूसरे जी सकें। यह सत्य है कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख चाहनेवाला उपयोगितावादी और सर्वोदयी सत्याग्रही अपने उद्देश्य की सिद्धि में कई बार एक दूसरे से मिलेंगे किन्तु अंत में दोनों के रास्ते अलग-अलग हो जायेंगे और कभी-कभी तो एक का विरोध दूसरे को करना पड़ेगा। उपयोगितावादी दूसरों के लिये कभी अपना बलिदान नहीं कर सकता, किन्तु सत्याग्रही दूसरों के लिये हमेशा मिटने को तैयार रहेगा।

अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख में अन्त्योदय का विचार नहीं है, जबकि सर्वोदय अन्त्योदय ही है। सर्वोदय इसलिए वांछनीय है, चूँकि अभी किसी का उदय नहीं हो सका।

अन्तिम व्यक्ति की हो नहीं, अभी तो सबका उदय करना बांकी है। सर्वोदय का अर्थ यही है कि, समाज के अन्तिम व्यक्ति का भी उदय हो।

मानव मात्र का हित समान है। हित का विरोध प्रतीति मात्र है। यह हमारी अज्ञानता की उपज है। मनुष्य-मनुष्य में जो भेद मालूम पड़ता है, वह प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता के गलत जीवन-दर्शन के कारण ही है। वस्तुत: मानव आत्मा परम शांत और अभेदमय है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्तियों के बीच विचार-भेद न हो। विचार-भिन्नता हमारे व्यक्तित्व की विशिष्टता का प्रमाण है। यदि यह मिट जायगी तो मानव की स्वतंत्रता ही मिट जायेगी और वह यंत्रवत् हो जायेगा। किन्तु विचार-विरोध हित-विरोध नहीं कहला सकता। मनुष्य अपूर्ण है। अत: अनेक मनुष्यों के अनेक विचारों को मिलाकर हम पूर्णता की प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं। किसी एक ही आदमी को पूर्ण विचार सूझे, यह नहीं हो सकता। एक को एक अंग सूझेगा, दूसरे को दूसरा और तीसरे को तीसरा। इस तरह सभी अंगों को मिलाकर एक सर्वाङ्गपूर्ण विचार होगा। इसलिये विचार-भेद अनिवार्य है। उसमें दोष नहीं, बल्कि गुण ही है। किन्तु विरोध नहीं होना चाहिए। हित-विरोध को समाप्त कर हित की एकात्मता की सिद्धि ही सर्वोदय है। उसके लिये दो सीधी-सादी बातों को समझना चाहिए :—(१) कुटुम्ब-न्याय, (२) प्रत्यक्ष उत्पादन।

कुटुम्ब-न्याय का अर्थ है कि हम दूसरे की फिक्र करें और दूसरे हमारी फिक्र करें। हम अपनी फिक्र इस तरह न करें जिससे दूसरों को तकलीफ हो। प्रत्यक्ष उत्पादन का अर्थ है शरीर-श्रम। हमें दूसरों की कमाई नहीं खाना चाहिए, अपना भार दूसरो पर नहीं डालना चाहिए।

संक्षेप में, सर्वोदय परस्पर प्रेम और करुणा के आधार पर शरीरश्रम और अपरिग्रह व्रत के माध्यम से समाज की उस दशा का नाम है, जहाँ साध्य और साधन की एकता हो, जाति-पाँति या धर्म का कोई फर्क नहीं हो, शोषण की थोड़ी भी गुंजाइश नहीं हो और सत्य एवं अहिंसा पर आधारित इस व्यवस्था में व्यक्तियों और समाज के विकास के लिये पूरा मौका हो।

विनोबा की भाषा में सर्वोदय का अर्थ है त्याग[२] + भोग[१]। अब प्रश्न है कि सर्वोदय के इस अर्थ की प्राप्ति के लिये जिन शाश्वत मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता है, वे मूल्य क्या हैं और उनकी स्थापना कैसे की जा सकती है ?

मूल्य-मीमांसा—सर्वोदय के मूल्य मानवीय है, पारमार्थिक हैं। सर्वोदय-विचार का केन्द्र मनुष्य है। मनुष्य ही उसका निरपेक्ष मूल्य है। संत चंडीदास ने कहा था—सवार उपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाहि। पारमार्थिक का सम्बन्ध किसी दूसरे लोक से नहीं है, अपितु परमार्थ तो शाश्वतता को कहते हैं। ब्रह्मसूत्र का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने परमार्थ की व्याख्या इस प्रकार की है—**एकरूपेण अवस्थित यः अर्थः सः परमार्थः** (अर्थात् जो अर्थ सदा एक रूप रहता है, बदलता नहीं, जिसमें शाश्वतता है, वह परमार्थ है।) इसी अर्थ में सर्वोदय ने मूल्य को पारमार्थिक कहा है। विनोबा कहते हैं कि पुराणकार भूत-सत्ययुग-वादी हैं। कम्युनिस्ट भविष्य-सत्ययुग-वादी हैं, किन्तु सर्वोदय वर्तमान-सत्ययुग-वादी है।" तात्पर्य यह कि सर्वोदय-विचार का आधार वर्तमान है।

सर्वोदय-विचारक मूल्य को शाश्वत मानते हैं। सत्य, अहिंसा आदि शाश्वत मूल्य हैं।

प्रश्न है कि मूल्य के लक्षण क्या हैं? "कोई सद्गुण जब सामाजिक बनता है, तो वह मूल्य बन जाता है। जो मूल्य समाज में सर्वत्र लागू नहीं हो सकता, वह पारमार्थिक मूल्य नहीं है।[६] उदाहरण के लिए यदि हम चोरी को मूल्य बनाना चाहें तो वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। चोरों के बीच तो पहला नियम यह होगा कि कम से कम वे आपस में चोरी न करें। अतः यह सार्वजनिक नहीं होने के कारण मूल्य नहीं है।

मूल्य का दूसरा लक्षण है कि हम अपने तथा दूसरे के लिए भी उसका पालन करें। जिसका हम निराकरण चाहते हों वह मूल्य नहीं हो सकता। जैसे, हम वैर का निराकरण चाहते हैं, अतः वह मूल्य नहीं है।

मूल्य का तीसरा लक्षण है कि वह संसार में अपने नाम पर चलता है, दूसरे के नाम पर नहीं। झूठ सच के नाम पर चलता है, अतः वह मूल्य नहीं हो सकता।

मूल्य का चौथा लक्षण है कि वह किसी कारण का भरोसा नहीं ढूँढ़ता। जैसे, मैत्री या प्रेम मूल्य है, क्योंकि इसे किसी कारण की जरूरत नहीं पड़ती। लड़ाई करने पर उसको कैफियत देनी होती है, किन्तु हम सच क्यों बोलते हैं,

इसके लिए कैफियत नहीं देनी पड़ती। अतः लड़ाई मूल्य नहीं है किन्तु सत्य-भाषण मूल्य है। संक्षेप में, मूल्य को किसी अन्य प्रमाण की जरूरत नहीं पड़ती। वह स्वतः प्रमाण्य होता है।

प्रश्न है कि इन मूल्यों की स्थापना के लिये सर्वोदय किस प्रकार संयोजन करता है?

पूँजीवादी व्यवस्था में 'मत्स्य-न्याय' के अनुसार ही संयोजन होता है, जिसका मूल सूत्र 'जिसकी लाठी उसकी भैंस है' और जहाँ समाज में खुली होड़ (Laissez faire) है। सर्वोदय के मूल्य खुली होड़ को अवसर नहीं देते। यह तथ्य है कि खुली होड़ में प्रबलतम जीएगा और निर्बल मरेंगे। किन्तु तथ्य जीवन का सिद्धान्त नहीं हो सकता। सिद्धान्त तो आदर्श होता है। मृत्यु एक तथ्य है। किन्तु क्या हम इसे सिद्धान्त मान सकते हैं? नहीं। सिद्धांत तो जीवन का ही हो सकता है। सिद्धान्त के लिए कोई मूल्य चाहिए। खुली होड़ में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। वस्तुतः जीवन तो प्रगति का नाम है और परिस्थिति या वर्तमान अवस्था से सिद्धान्त की तरफ जाने का नाम ही प्रगति है। 'मत्स्य-न्याय' पशु-जगत् का न्याय है, मानवीय जगत् का नहीं। मानवीय जगत् में कमजोर, बूढ़े माँ-बाप परिवार मालिक होते हैं, क्योंकि सामान्यतः परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति सर्वाधिक ममता माता-पिता में ही रहती है।

इसीलिए टोमस हक्सले ने 'जीओ और जीने दो' का सिद्धांत देकर मानवीय मूल्य की स्थापना का प्रयास किया। किन्तु मानवीय जगत् के लिए यह सिद्धांत भी अधूरा है। माता को अपनी संतान के लिए त्याग, पिता को अपने परिवार के लिए प्यार तथा सेवक को अपने समाज के लिए सेवा करनी होगी। कर्तृत्व के अभाव में व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है और व्यक्तित्व की कुंठा से मानवता मर्माहत हो जाती है। इसीलिए सेवा, प्रेम और त्याग के विना तटस्थ होकर स्वयं जीने और दूसरों को जीने देने के लिये आश्वासन देने मात्र से जीवन का संयोजन नहीं हो सकता। वस्तुतः यह भी मरण का संयोजन ही है। इतिहास में मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए जीवन का वैज्ञानिक संयोजन-विचार सर्वप्रथम रूस के वैज्ञानिक और क्रांतिकारी विचार प्रिंस प्रोपाटकिन ने दिया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Mutual Aid' (पारस्परिक साहाय्य)

में 'दूसरों को जिलाने के लिए जीओ'' का मन्त्र दिया। फलस्वरूप गांधी ने उस विचार का शास्त्र बनाया और आज सर्वोदय-विचार उस शास्त्र को विकसित कर रहा है। संक्षेप में, जहां पूंजीवादी सिद्धान्त है—'बलवान् ही जिन्दा रहे', पूंजीवाद का सामाजिक तत्त्व है 'खुली होड़'। पूंजीवाद का संयोजन-सूत्र है—'मुनाफे के लिए उत्पादन' और पूंजीवाद का तर्क है 'कार्य-दक्षता'; वहां ठीक इसके विपरीत समाजवादी सिद्धान्त है—'जीओ और जीने दो'। समाजवादी संयोजन सूत्र है, 'उपभोग के लिए उत्पादन', समाजवादी सामाजिक तत्त्व है 'नियंत्रित प्रतियोगिता' और समाजवादी तर्क है 'योग्यता के अनुसार काम और आवश्यकता के अनुसार दाम।' दोनों ही अवस्थाओं में मानव गौण हो जाता है, उसका व्यक्तित्व खो जाता है, क्योंकि मानव को निरपेक्ष मूल्य मानने के लिए न तो पूंजीवाद तैयार है और न समाजवाद। अतः सर्वोदय का सिद्धान्त दूसरों को जिलाने के लिए जीने का मंत्र देता है, सहयोग का सामाजिक तत्त्व देता है, घर (परिवार) के लिए उत्पादन का संयोजन-सूत्र देता है तथा उत्पादक के गुणों के विकास का तर्क देता है। उत्पादन के साथ-साथ स्वदेशी और शरीर-श्रम के व्रत जुड़ जाने से उत्पादक के गुण विकसित होते हैं।

सर्वोदय के गतिशील तत्त्व—सर्वोदय अपने मूल्यों की स्थापना के लिए जो संयोजन करता है उसके लिए उसका गतिशील तत्त्व (Dyanmics) क्या है? किसी वस्तु को जो तत्त्व शक्ति प्रदान करता है, उसे गतिशील तत्त्व कहते हैं। यह गतिशील तत्त्व समाज को सदा अपने मूल्यों की तरफ गतिशील रखता है, उसके संतुलन को संभालता है और वही समाज का अंतिम अधिष्ठान भी होता है।

पूंजीवादी समाज का गतिशील तत्त्व 'मुनाफा' और 'स्पर्द्धा' है। किन्तु सर्वोदय-समाज का चिरंतन गतिशील तत्त्व 'सत्याग्रह है। सत्याग्रह एक क्रान्तिकारी शक्ति है। क्रान्तिकारी शक्ति वह होती है जो परिस्थितगत कठिनाई को अवसर का रूप प्रदान कर देती है। निहत्थे भारतीयों को अंगरेजों के विरुद्ध सत्याग्रह की क्रान्तिकारी शक्ति प्रदान कर गांधीजी ने उनको लाचारी और कठिनाई को अवसर के रूप में परिणत कर दिया था। सर्वोदय का अंतिम आधार (Last sanction) भी सत्याग्रह ही है। दूसरे शब्दो में सर्वोदय का अंतिम आधार दंडशक्ति नहीं हो सकता। वह आधार तो विचार-शक्ति अथवा

हृदय परिवर्त्तन करने की शक्ति ही होगा। इसी शक्ति के सहारे सर्वोदय का चित्र उपस्थित किया जा सकेगा। अर्थात् एक ऐसी समाज-व्यवस्था कायम की जा सकेगी जो शोषणमुक्त, शासन-निरपेक्ष, वर्ग-वर्ण-विहीन तथा राज्य-दंड-निरपेक्ष होगी, जिसकी इकाई ग्राम, परिधि विश्व और केन्द्र मनुष्य होगा; जहाँ हर मनुष्य भाई-भाई रहेंगे और गाँव परिवार होगा।

समीक्षात्मक विचार

सर्वोदय-विचार के संबंध में जो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, उनमें से अधिकाधिक उसके व्यावहारिक पहलू से सम्बन्धित है। हम यहाँ कुछ आपत्तियों पर विचार करेंगे—

१ मानव-स्वभाव के संबंध में सर्वोदय विचार गलत है। मनुष्य में स्वार्थ-परता और संघर्ष की प्रवृत्ति मूल रूप से है। इस तरह सर्वोदय का मनोवैज्ञानिक आधार ही गलत है। मानव-स्वभाव की यथार्थता को न पहचान सकने के कारण ही सर्वोदय-विचार वर्ग-संघर्ष का निषेध कर हृदय-परिवर्त्तन की कल्पना करता है, जो कोरी कल्पना है।

२. आज का विश्व आर्थिक और राजनीतिक केन्द्रीकरण की ओर द्रुतगति से बढ़ रहा है, जिसे देखकर विकेन्द्रीकरण की कोई सम्भावना नहीं दीख पड़ती है। किन्तु सर्वोदय विकेन्द्रीकरण में निष्ठा रखता है और विकेन्द्रित समाज-व्यवस्था में विश्वास करता है। राजसत्ता और अर्थसत्ता के विकेन्द्रीकरण पर ही सर्वोदय-समाज का सारा संयोजन निर्भर करता है, जो युग की गति के प्रतिकूल है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के उत्तर में हम इतना मानने को तैयार हैं कि सर्वोदय-विचार युग की धारा के प्रतिकूल अवश्य है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह असाध्य है। हर क्रान्तिकारी विचार युग की मान्यताओं और उनकी गतियों का विरोधी होता है और उसी विरोध में उसकी क्रान्तिकारिता छिपी रहती है। जहाँ तक मानव स्वभाव का सम्बन्ध है, सर्वोदय-विचार को अन्य विचारकों का भी समर्थन मिलता है। यदि मनुष्य में हिंसा, लोभ, संघर्ष आदि की प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती है तो साथ ही अहिंसा, प्रेम, त्याग और सहयोग भी प्रत्येक मनुष्य के जीवन में पाया जाता है। चौबीस घंटों के दिन-रात में यदि मनुष्य एक घंटा भी क्रोध या संघर्ष-रत हो जाता है,

तो उसकी दुर्दशा हो जाती है। वह न तो सामान्य ढंग से बोल सकता है, न चल सकता है और न स्थिर रह सकता है। कभी-कभी तो इन्हीं कारणों से वह हृदयाघात का शिकार होकर अपना अस्तित्व खो डालता है। लेकिन प्रेम, सहयोग आदि के सहारे मनुष्य आजीवन सुखी रहता है। मनुष्य का स्वभाव उत्तम है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि वह अच्छे कार्यों की प्रशंसा करता है और बुरे कार्यों की भर्त्सना करता है।

यदि यह भी मान लिया जाय कि मनुष्य में स्वार्थ आदि बुराइयाँ है तो भी इन बुराइयों को दूर कर अच्छाइयों की प्राप्ति की संभावना को स्वीकार करना हर क्रान्तिकारी विचारक के लिए अनिवार्य है। परिस्थितियाँ मनुष्य में परिवर्त्तन लाती ही हैं। इस प्रकार सर्वोदय-विचार की यह मान्यता मानक कल्याण के लिए उपादेय है। क्या कोई भी विचारक मानव-हित में इस बात को स्वीकार कर सकता है कि मनुष्य यदि बुरा है तो उसकी बुराई दूर नहीं की जा सकती है? यदि ऐसा माना जाय तब तो सारे मानवीय शिक्षण-प्रशिक्षण, संदेश, उपदेश और आदेश निरर्थक हो जायँगे। साथ ही ऐसा मानना माननीय गरिमा के भी प्रतिकूल है। कार्ल मार्क्स ने भी, जिन्होंने संघर्ष को मानव-समाज के विकास के लिए आवश्यक माना था, मनुष्य में शांतिप्रियता तथा प्रेम के तत्त्व को स्वीकार किया है।

सर्वोदय-विचार 'वर्ग-संघर्ष, में नहीं, 'वर्ग-निराकरण' में आस्था रखता है। जब वर्ग ही नहीं रहेगा तो संघर्ष किस बात का ?* सर्वोदय प्रतिपादित हृदय-परिवर्त्तन एक प्रकार का परिवर्त्तन ही है जिसको सदा व्यावहारिक माना गया है और माना जायगा।

जहाँ तक विकेन्द्रीकरण का प्रश्न है वह भी मानव-जाति के हित के लिये अनिवार्य है। केन्द्रीकरण ने अर्थनीति और राजनीति में एकाधिकार का सृजन किया है जिसे मिटाये विना न तो समाजवाद संभव है और न सर्वोदय ही।

---

* "Finally, in times when the class- struggle nears the decisive hours, the process of dissolution going on within the ruling class, in fact within the whole range of an old society, assumes such a viloent glaring character that a small section of a rul ng class cuts itself adrift and joins the revolutionary class, the class that holds the future in its hands"

—(Report of Sevagram Sammelan, 1948, P. 70)

तस्य व्रात्यस्य एक तदेषाम्
अमृतत्व मित्याहुतिरेव
अथर्व १५।१७।१०

मंगल-व्रती के लिए एक ही अमृत मार्ग होता है—विश्वकल्याण के लिए अपने जीवन की आहुति दे देना ।

+ + + +

शिवे मे द्यावा पृथिवी अभूताम्
असपत्ना: मे प्रदिशो भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु
अथर्व १९।१४।१

संपूर्ण पृथ्वी-आकाश मेरे लिए शुभ हो।
किसी दिशा में कोई शत्रु नहीं हो।
किसी के प्रति मेरे मन में द्वेष नहीं रहे।
हमलोग अभय होकर विचरण करें।

+ + + +

परिचर्चा २

[गांधी-दर्शन में ब्रह्मचर्य का आदर्श]

गाँधी-दर्शन में ब्रह्मचर्य का आदर्श

श्रीमती विनोदबाला सिंह, एम० ए०

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्मणे वेद-विद्यायै तथा विद्यायै चर्यते आचर्यते इति ब्रह्मचर्यम् अर्थात् वेद-विद्या के लिए विशेषरूप में, तथा विद्या के लिए सामान्यरूप से, जिस व्रत का पालन किया जाय उसे ब्रह्मचर्य (व्रत) कहते हैं।

ब्रह्मचर्य का उल्लेख सबसे प्राचीन ग्रन्थ, वेदों तक में, मिलता है। वैदिक संस्कृति के आरम्भ से ही ब्रह्मचर्य की परिपाटी उपलब्ध होती है। ब्रह्म शब्द "वेद" को भी कहते हैं और "ज्ञान" को भी। ज्ञानार्जन के लिए घोर परिश्रम, चित्त की एकाग्रता, और विषय-वासना का त्याग आवश्यक होने के कारण प्राचीन काल में कठोर ब्रह्मचर्य प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक था। मनुस्मृति के अनुसार गुरु के पास रहकर ब्रह्मचारी को स्नान-ध्यान द्वारा पवित्र होकर इन्द्रिय-दमन द्वारा अपने तपोबल की वृद्धि करते हुए विद्याध्ययन में संलग्न रहना चाहिये। सुख-सुविधा के साधन, श्रृंगार, द्यूत, मद्य, मांस, हिंसा, स्त्री-दर्शन, स्त्री-स्पर्श आदि का त्याग करना चाहिए। माँ, बहन, बेटी के साथ भी एकान्त में न रहे, युवती गुरु-पत्नी के चरणों तक का स्पर्श न करे। "गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयाः"।

श्री काणे और डा० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार "ब्रह्मचर्य" शब्द का अर्थ है वेदाध्याय, "ब्रह्मचारी" का वेदपाठी, तथा "ब्रह्मचर्याश्रम" का अर्थ है वेदाध्ययन के लिए आचार्य-कुल में निवास। भारत में दर्शन के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं मूलभूत साम्य के रूप में, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षादि पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के लिए चतुराश्रम-व्यवस्था यानी ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों द्वारा मानवजीवन को व्यवस्थित रीति से व्यतीत करते हुए "जीवेम शरदः शतम्, श्रृणुयाम शरदः शतम्" का आदर्श रखा गया। इनमें से प्रथम यानी ब्रह्मचर्याश्रम का हमारी चर्चा से साक्षात् सम्बन्ध है।

ब्रह्मचर्य शब्द का सीधा अर्थ है—ब्रह्म-प्राप्ति के लिए चर्या। मंगलदेव शास्त्री के अनुसार समस्त सृष्टि के मूल कारण ब्रह्म या ज्ञानरूप वेद की प्राप्ति

के उद्देश्य से व्रत ग्रहण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ विनोबा के अनुसार, ब्रह्म की खोज में अपना जीवन-क्रम रखना, या सबसे विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना है।

वेदों में ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ इस प्रकार मिलता है। सायणाचार्य ने लिखा है—'वेदात्मक ब्रह्म का अध्ययन करने का आचरण जिसका है उसे 'ब्रह्मचारी' कहते हैं। "ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलं यस्य सः[२] ।" पतंजलि ने वस्तिनिरोध को ब्रह्मचर्य कहा है। जैनों ने सत्य, तप, भूत-दया एवं इन्द्रिय-निरोध-रूप ब्रह्म की चर्या, यानी जिन-प्रवचन को, अथवा मोक्ष के हेतु सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चरित्रात्मक मार्ग को ब्रह्मचर्य कहा है। बौद्ध पिटकों में ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है – बौद्ध धर्म में वास, निर्वाण-प्राप्ति के हेतु चर्या, अथवा मैथुन-विरमण। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत-पालन "घनिष्ठ ब्रह्मचर्य," चौवालिस वर्ष तक "मध्य ब्रह्मचर्य," एवं अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन "उत्तम ब्रह्मचर्य" कहलाता है। हमारे सामने आजन्म एवं अखंड ब्रह्मचारियों के आदर्श भी उपस्थित हैं। जैसे, शुकदेव, भीष्मपितामह, शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द आदि।

महात्मा गांधी के अनुसार सर्वदा, सर्वथा, सर्वत्र, मनसा, वाचा, कर्मणा, सर्वेन्द्रिय-संयम ही ब्रह्मचर्य है। इस रूप में वह आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है[३] "। पंच व्रतों में से ब्रह्मचर्य व्रत भी एक है, परन्तु सभी का पालन आवश्यक है। पंचयमों में से कोई एक भी पूर्ण साधना का द्योतक नहीं हो सकता। सत्य के बारे में ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि अन्य चार उसमें अन्तर्भावित हैं। परन्तु सिद्धांत के रूप में एक से अनेक भले ही निस्सरित हो सकते हैं, एक सर्वोपरि सिद्धांत को जानने और मानने के लिए अनेक उपसिद्धांतों को जानना आवश्यक है। यानी गांधी की अध्यात्म-भावना की भित्ति, पंच स्तम्भों पर आधारित है और एक के भंग होने से ही सम्पूर्ण साधना भग्न हो जाती है[४]। चूँकि मन वचन और कर्म से सर्वेन्द्रिय-संयम की बात कही गई है, इसलिए कुछ अन्य प्रतिज्ञाएँ भी आदर्श ब्रह्मचर्य के लिए अनिवार्य हो जाती हैं —(क) अस्वाद (ख) सर्वव्यापी प्रेम (ग) पति-पत्नी का भ्रातृ-भगिनी-रूप (घ) समत्व भाव (ङ) संतति-नियम (च) विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य का आदर्श (छ) उपवास (ज) रामनाम (झ) मातृभावना।

"सोलहो आने ब्रह्मचर्य पालन का अर्थ है ब्रह्मदर्शन"[५]। इसके लिए बुद्धि, शरीर और आत्मा तीनों का संरक्षण परमावश्यक है। यानी ब्रह्मचर्य-व्रत एक महाकठिन तपस्या है जिसे गांधीजी ने "असिधारा-व्रत" कहा है। हमारे शास्त्रकारों ने भी कहा है कि जीवात्मा इन्द्रियों के वशीभूत होकर नाना प्रकार के पाप करता है और एक इन्द्रिय के विचलित होने मात्र से मनुष्य की बुद्धि ऐसे स्खलित होती है जैसे चालनी में से जल निकल जाता है।

"इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्"[६]।

स्वादेन्द्रिय पर संयम का आधिपत्य अस्वाद-व्रत कहा गया है। भोजन के लिए जीवन नहीं, जीवन के लिए भोजन होना चाहिए; वह भी सात्त्विक, तामस नहीं। मनु ने भी कहा है कि ब्रह्मचारियों को मधु-मांस आदि का त्याग उचित है—"वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः"[७]। ब्रह्मचारी का आहार वनपक्व फल ही होना चाहिए, दुग्धाहार से यह कष्ट-साध्य हो जाता है। ब्रह्मचर्य के बाह्य एवं आंतरिक नियंत्रण के अतिरिक्त बलवान् इन्द्रियों को चारो ओर से, ऊपर और नीचे से, दसों दिशाओं से, बांधना आवश्यक है। आहार में भोजन के प्रकार के साथ-साथ मात्रा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही अस्वाद भी मन वचन और कर्म से होना चाहिए अर्थात् मन को अस्वाद-रसपान का अभ्यास होना चाहिए। गीता में भी कहा है, "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः"। यद्यपि निराहार रहने से इन्द्रियां अशक्त होकर विषय-सेवन के अयोग्य हो जाती हैं, तथापि यह तो अस्थायी एवं बाह्य प्रक्रिया हुई। मन में विषय-वासना के रस के प्रति वैराग्य आना चाहिए और सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिए कि ब्रह्म-प्राप्ति के लिए शरीर-रक्षण हेतु भोजन किया जा रहा है, न कि जिह्वा की तृष्णा शांत करने के लिए।

महात्मा गांधी ने वैवाहिक ब्रह्मचर्य के आदर्श को रखते हुए कहा है कि सर्वप्रथम तो मनुष्य को नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने का आदर्श रखना चाहिए। परन्तु यदि विवाह करना ही पड़े तो पति-पत्नी तक ही प्रेम को सीमित न रखकर उसे सर्वव्यापक बना देना चाहिए। यदि एक पुरुष अपना समस्त प्रेम अपनी पत्नी को सौंप दे तो वह तो अकिंचन हो गया। "वसुधैव-कुटुम्बकम्" को मनसा वाचा कर्मणा वह नहीं अपना सकता। अतः ब्रह्मचारी को, जिसने

सत्य का वरण किया है, विवाह नहीं करना चाहिए। यदि वह किसी और वस्तु की उपासना करता है, भले ही पत्नी या पति की उपासना हो, वह व्यभिचारी बन जाता है। अतः अहिंसा या सर्वव्यापी प्रेम-व्रत लेने वाले के लिए विवाह उचित नहीं।

विवाहितों के लिए अविवाहित सा बन जाना ही आदर्श होना चाहिए।[९] यानी, स्त्री-पुरुष स्वयं को पति-पत्नी न मानकर भाई-बहन मानने लग जायँ। टॉलसटॉय ने भी यही कहा है। महात्मा गाँधी यह मानने को तैयार नहीं है कि स्त्री-पुरुष के बीच का सहज आकर्षण स्वाभाविक एवं प्राकृतिक होता है। उनके अनुसार बहन-भाई, माता-पुत्र, पिता-पुत्री के बीच का प्रेम नैसर्गिक होता है और संसार इसी प्रेमाधार पर टिका हुआ है। इसके सिवाय अन्य किसी भी दृष्टि से स्त्री को देखना नरक का सीधा मार्ग होगा।[१०] मैं अगर सम्पूर्ण नारी जाति को माँ, बहन या बेटी न मानूं तो काम करना तो दूर, जीना भी दुश्वार हो जाय"—गाँधी ने कहा। आचार्य तुलसी ने भी कहा है—"मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरूपकम्"। जैन कथाओं में ऐसे कठिन व्रत-पालन की अनेक कथाएँ उपलब्ध हैं। महात्मा गाँधी ने जब से इस व्रत को अपनाया पत्नी के साथ रह कर भी कठोर संयम निभाते रहे।

महात्मा गांधी ने कहा कि मुर्दे को छूकर जिस प्रकार हम जरा भी प्रभावित नहीं होते, वैसे ही परम सुन्दरी नारी के स्पर्श से भी जब हममें कोई विकार नहीं पैदा हो तब ही अपने को सच्चा ब्रह्मचारी मानना चाहिए।[११] इतना ही नहीं, महात्मा गाँधी ने उसे ब्रह्मचर्य माना ही नहीं जिसमें स्त्री-स्पर्श तक वर्जित हैं। निर्विकार संबंध, एक-शय्या-शयन, एकान्त में अकेला स्त्री के साथ निवास, आदि गाँधी जी के जीवन में चलते रहे और ऐसी वाड़ों के प्रति उन्होंने कोई कट्टर आग्रह भी नहीं दिखलाया है। यदि इन ढालों को जरा भी महत्व उन्होंने दिया है, तो सिर्फ वहीं तक जब तक कि साधक को अभ्यास न हो जाय और उसके अन्दर से मोह-भाव बिल्कुल नष्ट न हो जाय।

एकान्त में न मिलना, पृथक् शय्या-शयन, सद्विचार एवं सत् कार्य में निरंतर व्यस्त रहना, विषय-भोग में दुःख ही दुःख है इसका निरंतर स्मरण, एवं अच्छी पुस्तकों का पाठ, एक साथ रहकर भी दूर रहना, आदि का दृढ़ निश्चय करके ही पति-पत्नी ब्रह्मचर्य की मर्यादा निभा सकते हैं।

ईश्वर-साक्षात्कार के लिए सांसारिक बंधन टूटना आवश्यक है। विवाह जैसा बंधन तो निश्चय ही टूटना चाहिए। एक तो विवाह करना ही नहीं चाहिए, परन्तु यदि संयम न हो सके तो विवाह करना, किन्तु शारीरिक सुखों से सर्वदा दूर रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना ही धर्म हैं। यदि अखंड ब्रह्मचर्य का पालन दुष्कर प्रतीत हो तो नियम-भंग केवल संतानोत्पत्ति के लिए ही होना चाहिए। विषय-सुख भी भोगें और संतान की जिम्मेदारी से भी बचें, यह तो घोर अनर्थ है। पहली संतान "धर्मज" तथा अन्य सब "पापज" हैं। गांधीजी ने यही आदर्श बतलाया। एक पुरानी कथा है कि वशिष्ठ की कुटिया के सामने एक नदी बहती थी। दूसरे किनारे विश्वामित्र तप करते थे। वशिष्ठ गृहस्थ थे। पहले अरुंधती थाल परोसकर विश्वामित्र को खिला जाती, बाद में वशिष्ठ के घर पर सब लोग भोजन करते। एक दिन नदी मे बाढ़ आ गई। अरुंधती उस पार न जा सकी। उसने वशिष्ठ से इसका उपाय पूछा। उन्होंने कहा—"जाओ, नदी से कहना, मैं सदा-निराहारी विश्वामित्र को भोजन देने जा रही हूँ, मुझे रास्ता दे दो। अरुंधती ने वैसा ही किया। तब अरुंधती को बड़ा आश्चर्य हुआ कि विश्वामित्र तो रोज खाना खाते हैं फिर निराहारी कैसे हुए? जब विश्वामित्र खाना खा चुके तब अरुंधती ने उनसे पूछा—"मैं वापस कैसे जाऊं? नदी में तो बाढ़ है। विश्वामित्र ने कहा—"तुम नदी से कहना, सदा-ब्रह्मचारी वशिष्ठ के यहाँ लौट रही हूँ। नदी! मुझे रास्ता दे दो।" अरुंधती ने ऐसा ही किया। अब तो उसके अचरज का ठिकाना न रहा। उसने पति से इसका रहस्य पूछा कि विश्वामित्र को सदा-निराहारी और आपको ब्रह्मचारी कैसे मानूं? वशिष्ठ ने बताया—"जो केवल शरीर-रक्षा के लिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से भोजन करता है, वह नित्य भोजन करते हुए भी निराहारी है, और जो केवल स्व-धर्म-पालन के लिए अनासक्तिपूर्वक संतानोत्पादन करता है, वह संभोग करते हुए भी ब्रह्मचारी ही है। विषयमात्र का त्याग ही ब्रह्मचर्य हैं, इसलिए सर्वेन्द्रियदमन के साथ जननेंद्रिय-संयम का निश्चय तो परमावश्यक है। संतति-नियमन के लिए कृत्रिम उपाय तो "विषस्य विषमौषधम्" के समान है। सच्चा उपाय विषय-वासना पर विजय पाना यानी जितेन्द्रियता ही है।

ब्रह्मचर्य के स्थायित्व का एक उपाय उपवास भी है। उपवास का अर्थ है 'उप समीपे वासः' यानी ईश्वर के समीप निवास। मन ही इसका मुख्याधार

है। उपवास वही कर सकता है जिसका मन निर्विकार हो। विकारयुक्त मन षद्रस भोजन के सपने देखा करता है। जैसा भोजन इन्द्रियों को मिलता है तदनुसार विचार भी बदला करते हैं। उपवास से मन में स्वभावतः पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं। अतः संयम की ओर प्रवृत्त मन को निराहार बल, स्फूर्ति, विचारों में दृढ़ता, रोग-शोक से मुक्ति देता है। जैसे-जैसे मन निर्विकार होता जाता है, शरीर स्वस्थ एवं तेजोमय होता जाता है।

ईश्वर एक महान् शक्ति के रूप में सर्वत्र वर्त्तमान है। ईश्वर पर विश्वास रखकर कोई भी कार्य करने में सफलता अवश्य ही मिलती है। ऊपरी मन से राम-नाम जप कर कोई सफलता नहीं पा सकता। राम-नाम, प्रार्थना, उपासना और ईश्वर में विश्वास रखना, ब्रह्मचर्य-साधना के लिए आवश्यक है। इससे एकाग्रता आती है, और साधक चित्त की दृढ़ता से अपने उद्देश्य में प्रवृत्त होता है। गांधीजी हिरण्यकशिपु और भक्त प्रह्लाद की कथा का श्रद्धापूर्वक उदाहरण भी दिया करते थे। उन्होंने कहा है—"तन्मयता में एक बड़ी शक्ति है। किसी एक ध्येय में तन्मय हो जाओ, रात-दिन वही बात सोचो, तो ब्रह्मचर्य सध सकता है। जब तक ब्रह्मनिष्ठा उत्पन्न नहीं होती, तब तक पूरा ब्रह्मचर्य नहीं कहा जायगा।"

महात्मा गांधी ने कहा कि ब्रह्मचर्य-पालन में सबसे महान् भावना, मातृ-भावना का साक्षात्कार है। हम सब एक ही पिता की संतान हैं। अतः विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात् ब्रह्मचर्य की भावना जब प्रबलरूप से हमारे मन में पैठ जायगी तब हमें सारा संसार एक कुटुम्ब के रूप में दिखाई देगा। फलतः विवाह सम्बन्ध व्यभिचार के समान लगेगा। भाई-बहनों में ब्याह कैसा ?

गांधी ने शिक्षा का अर्थ पुस्तकीय ज्ञान नहीं, अपितु चरित्र-गठन को माना है। उपनिषदों में भी यही कहा है। चरित्रगठन का अर्थ है कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान। श्रवणकुमार की कथा ने गांधी को प्रभावित किया और माँ-बाप की सेवा को उन्होंने शिक्षा का आवश्यक अंग माना।[13] गांधी ने शुकदेव को आदर्श ब्रह्मचारी माना। उनकी स्थिति को प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य बनाया, अर्थात्, पुरुषार्थ रहते हुए भी, वीर्यवान् होते हुए भी, नपुंसकता की प्राप्ति। उनका विश्वास था कि स्वयं उन्हें इस आदर्श की सिद्धि हो चुकी है, और भारतीय संस्कृति में द्विलिंग मानसिकता की चरम प्राप्ति की प्रमाण-परीक्षा के लिए उन्होंने लगभग अठहत्तर वर्ष की आयु में अन्तिम और सबसे बड़े प्रयोग किए।

मनु गांधी के अलावा कुछ और बहनें भी इस प्रयोग में भागीदार बनीं। प्रायः प्रकृत (अनावृत) अवस्था में बच्चियों की तरह वे उनके साथ सोतीं। वे स्वयं भी उसी प्रकार सोते, ओढ़ने की चादर भी एक होती। जब कभी वे जाड़े से काँपने लगते, उस समय जो कोई भी उनके पास होती, अपने शरीर से उनको गर्मी पहुँचाती। बाद में वे बहनों से उनके अनुभव जानना चाहते कि उनमें किसी प्रकार की विकृत भावना तो नहीं जगी।[१४]

महात्मा गांधी का यह विश्वास था कि यदि वे सच्चे ब्रह्मचारी हैं तो वातावरण पर प्रभाव पड़ेगा ही। क्योंकि अहिंसक के सान्निध्य में वैर नहीं टिक सकता—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः। इसीलिए गांधीजी निरंतर स्वयं से यह प्रश्न पूछा करते कि बंगाल में प्रज्वलित साम्प्रदायिक अग्नि अहिंसा के तप से प्रभावित क्यों नहीं हो रही और शायद इसीलिये यह प्रश्न भी उनके मन में उठा करता कि मुस्लिम लीग और श्री जिन्ना पर उनकी सत्यनिष्ठा का प्रभाव क्यों नहीं पड़ रहा? इस प्रयोग के विरोध में गांधीजी के कुछ मित्रों तथा सहकर्मियों ने उन्हें समझाया, कुछ ने साथ भी छोड़ दिया। आचार्य कृपलानी तथा श्री अब्दुल गफ्फार खाँ ने भी आपत्तिजनक पत्र भेजे। गांधीजी ने ठक्कर बापा के रोकने पर लोक-संग्रह के लिये तीन मास प्रयोग स्थगित कर दिये। परन्तु फिर भी बाद में उनके ये प्रयोग जारी रहे।[१५]

यह सत्य है कि ब्रह्मचर्य के समान कठोर तपस्या की गुणगाथा वेद-पुराणों तक में गायी गई है—ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु-मुपाद्यन्। इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वर्गमाभरत्। ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं हि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।[१६] अर्थात्—ब्रह्मचर्य की तपस्या से देव लोग मृत्यु पर विजय पा चुके हैं। देवों के राजा इन्द्र ने निश्चय ही ब्रह्मचर्य के द्वारा स्वर्ग को सुख से भरपूर किया। ब्रह्मचर्य-तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, आदि। यह भी सत्य है कि ब्रह्मचारी का जीवन तप और संयम से ओतप्रोत रहता है। तप के प्रभाव से असंभव-से कार्य भी उसके लिए सहज एवं संभव हो जाते हैं। परन्तु प्रश्न है कि सच्चे ब्रह्मचर्य की मापक तुला क्या है? विनोबा भावे ने भीष्म तथा गांधी दोनों को ही पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं कहा है। भीष्म ब्याह करने वाले थे, पिता के कहने से उन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया, स्वयं

ब्रह्मोपासना की प्रेरणा उन्हें नहीं हुई। साक्षात् ब्रह्म के लिए जो ब्रह्मचारी रहेगा वही आदर्श होगा। जो देश के लिए ब्रह्मचारी रहते हैं उनके व्रत को "देशचर्य" कहना चाहिए। भीष्म अन्त में ऐसे ब्रह्मचारी बने, परन्तु शुक के समान आरम्भ से आदर्श ब्रह्मचारी नहीं थे। गाँधीजी ने भी सामान्य जन-सेवा की दृष्टि से ब्रह्मचर्य आरम्भ किया और अच्छे ब्रह्मचर्य में उसकी परिणति की। पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। स्वयं गांधी ने ही कहा कि आदर्श ब्रह्मचारी पूर्णतया पाप-रहित और ईश्वर के अतिनिकट, ईश्वर-सम होता है। इसकी पराकाष्ठा पर पहुँच कर आत्माभिव्यक्ति या आत्म-परिणति हो जाती है।[१७]

अब प्रश्न है कि महात्मा गांधी के ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा क्या थी? उनके ब्रह्मचर्य का आदर्श क्या था? वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा के चतुर्दिक् घूमते हुए मानव-मन द्वारा संसार के सारे कार्य-सम्पादन हुआ करते हैं। परन्तु स्थितप्रज्ञ अनिवार्य रूप से इन सब इच्छाओं से परे होता है। बिना इनपर विजय प्राप्त किए मोक्ष-प्राप्ति की कल्पना तो क्या, कोई मुमुक्षु तक नहीं हो पाता। गाँधीजी इस लोकैषणा से कितनी दूर तक मुक्त थे इसका विवेचन तो कोई समर्थ मनोवैज्ञानिक ही कर सकता है, परन्तु कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के सदृश कोई भी वस्तु गांधी में नहीं रह गई थी।

यह ठीक है कि गांधी-दर्शन एक मुक्त विचार-धारा है। किसी वाद की मर्यादा में बांध कर उसे नहीं रखा जा सकता। और, गांधी-दर्शन को समझने के लिए गांधी के समान महापुरुष होना भी अनिवार्य है, जैसा स्वर्गीय नेहरू ने भी कहा था—"नो मैन कैन राइट ए रीयल लाइफ ऑफ गांधी अनलेस ही इज ऐज् बिग ऐज् गांधी।" फिर भी अतिविनम्रता एवं क्षमा-याचना के साथ, मैं अल्पज्ञा, उनके चर्चित विषय से सम्बद्ध विचारों पर एक विहंगमदृष्टि डालने की चेष्टा कर रही हूँ।

सच्चे अर्थों में ब्रह्मार्पण-बुद्धि से जो व्रत धारण करे वही ब्रह्मचारी कहलाता है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन मनसा, वाचा और कर्मणा होना चाहिये। इस स्थापना को दृष्टिगत रखते हुए महात्मा गांधी के ब्रह्मचर्य-व्रत के प्रयोगों की विवेचना के अंतर्गत निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं—

महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य-व्रत क्यों धारण किया?

क्या (१) जन-कल्याण की भावना से?

या (२) अपराध-भावना से प्रेरित होकर ?

या (३) कस्तूरबा की रुग्णावस्था और हिंदू धर्म में प्रतिष्ठित आदर्श के कारण ?

या (४) अपनी शरीर-रचना के फलस्वरूप ?

या (५) फिनिक्स आश्रम में सम्मिलित जिम्मेदारियों के कारण (संतति-नियमन की आवश्यकता महसूस होने से) ?

या (६) अपने वंशानुगत संस्कारों के कारण ?

इन सभी अन्तर्भूत कारणों के सम्मिलित प्रभाव से, प्रेरक निमित्त का शायद साध्य से भावात्मक गठबन्धन हो गया हो। पर साध्य आध्यात्मिक था। अतः अप्रकट रूप में उनके पवित्र जीवन में मानवीय दुर्बलताएँ दमित हो गईं और उनपर छा गया जनकल्याण के लिए गांधी का त्यागरूपी कठोर व्रत। फलतः वे आत्म-केन्द्रित न रहकर परमार्थ-केन्द्रित बन गये और साधारण जगत् से बहुत ऊपर उठ गए। अन्तर में उठनेवाली आंधियों की दिशा को मोड़कर उन्होंने अधिक शक्तिलाभ की ओर लगा दिया और इस प्रकार दक्षिणी अफ्रिका में एक नए गांधी का प्रादुर्भाव हुआ।[१८]

एक गांधी, एक ईसा या एक टॉलसटॉय पैदा हो सकता है, किन्तु मानव-मनोविज्ञान नहीं बदला जा सकता। अर्जुन को ही जब कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाते हुए कृष्ण को नाना प्रकार के तर्क-वितर्कों का अवलम्बन करना पड़ा था तब फिर सर्वसाधारण की बिसात ही क्या ? हजरत मूसा ने जैसे होरेक पर्वत की चोटी पर वहां की झाड़ियों को जलाने का निरर्थक प्रयत्न करती हुई अग्नि को देखा था, वैसे ही यह वासना रूपी अग्नि है जो कभी नहीं बुझती, उसे कोई नहीं बुझा सकता।[१९] ईसा ने भी कहा है कि कामवासना तो ईश्वर ने मनुष्य को प्रदान की है।[२०] मनुष्य बेचारा तो मनुष्य ही है। मानव-शरीर को संभाल कर ले चलना बड़ा कठिन है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा कि "कंदर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः" अर्थात् कामदेव का घमंड नष्ट करने का साहस विरलों में ही होता है।[२१] वात्स्यायन, कौटिल्य आदि ने भी अनेक प्रकार से कामदेव की शक्ति का वर्णन किया है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वयं भर्तृहरि का जीवन था, जब उनके दुःख-द्रवित हृदय से अनायास ही फूट पड़ा था, "धिक् तां च मां च मदनं च इमां च मां च।"[२२] इतना ही नहीं, भौतिक सुख एवं शारीरिक सुख की तीव्रता का महत्व कभी-कभी कितना प्रमुख

बन जाता है इसका उदाहरण सातवीं-आठवीं शती के सिद्धों का धर्म और साहित्य है। सिद्धों ने परमसुख या जीवब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति को संभोग-सुख के समानान्तर बतलाते हुए "महामुद्रा" की साधना को सिद्ध बनने के लिये परम आवश्यक कहा है।[२३]

अतः इतना तो स्वतः सिद्ध है कि काम-वासना मानव-मन के साथ लगी हुई है। पुरुष-स्त्री का एक दूसरे के प्रति आकर्षण अनादिकाल से चला आ रहा है। परब्रह्म यदि सत्य है, तो महामाया भी सत्य है। मायामय जगत् में स्त्री का अद्वितीय स्थान है। बिना भोग के यदि सृष्टि और जीवन की कल्पना की हो जा सकती, तो हमारे शास्त्रकारों ने पुरुषार्थ-चतुष्टय की व्यवस्था ही क्यों की होती? अतः ब्रह्मचर्य-व्रत का मर्यादा-पूर्वक वहन कठिन ही नहीं, महाकठिन है। गांधीजी ने सर्व-साधारण से जो आकांक्षाएँ की हैं, वे असंभव-सी हैं। यथा विवाहितों के लिए भाई-बहन का आदर्श, संतति-निरोध के लिए संयम का प्रयोग, आदि। इतना ही नहीं, गांधीजी ने जो ये अशक्य सिद्धान्त बतलाए हैं, उनके बारे में वे स्वयं तटस्थ नहीं और कहते हैं कि "मैंने जब जैसी आवश्यकता देखी, अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन करता गया।" उदाहरणार्थ, संतति-नियमन के लिए एक ओर तो उन्होंने संयम को यानी ब्रह्मचर्य को आवश्यक बतलाया, दूसरी ओर यह भी कहा कि परिवार-नियोजन के कृत्रिम साधनों का प्रयोग कुछ परिस्थितियों में उचित हो, तो भी, करोड़ों के उपयोग के लिए यह नितान्त अव्यावहारिक है। क्योंकि, इससे दुर्बल मानव-समाज एक ओर तो और दुर्बल बनेगा, दूसरे, लोग इतने गरीब और भोले हैं कि वे कृत्रिम साधनों का प्रयोग नहीं कर सकते। अतः संयम द्वारा ही यह कार्य हो जाना चाहिए और इसीलिए अधिक आयु में ही विवाह करना चाहिये।[२४]

इस प्रकार हमने देखा कि तर्कों के द्वारा किसी सिद्धान्त का आधार कैसे बदल जाता है। श्रीमती सरोजिनी नायडू भी अक्सर कहा करती थीं कि गांधीजी को गरीबी का जीवन जीने देने के लिए काफी खर्च करना पड़ता है और गांधीजी इसे मुस्कराकर स्वीकार करते। मानवता को प्रेम और स्नेह का पाठ पढ़ाने वाले गांधी स्वयं अपनी पत्नी और बच्चों के लिए अति कठोर थे। इसी तरह की और भी अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे यह परिलक्षित होता है कि महात्मा गांधी के सिद्धान्तों में कुछ 'व्याघातक-तत्त्व' भी अंतर्निहित हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने उनकी तुलना सूर्य से की है जो दूसरों को स्वास्थ्य देता है पर नजदीक वालों को जलाकर भस्म कर देता है। एक बार गोखले ने उनसे कहा था, "गांधी, तुम बड़े जालिम हो, एक ओर तुम्हारा प्रेम और दूसरी ओर तुम्हार आग्रह, दोनों मिलकर दूसरे पर इतने जोर का असर करते हैं कि बेचारा तुम्हें खुश करने और तुम्हारी इच्छानुसार चलने को मजबूर हो जाता है।"[२५]

कहीं यही कारण तो नहीं रहा होगा जिसने अप्रत्यक्षरूप से मजबूर किया हो बहनों को उस अंतिम प्रयोग में भाग लेने के लिए ? फिर यदि बहनों ने स्वेच्छा से उस यज्ञ में भाग लिया भी हो तो इसका क्या प्रमाण कि वे अपनी मनोभावनाएँ अक्षरश: गांधीजी पर सत्य-सत्य ही प्रकट करती होंगी ? स्वभाव से ही लज्जाशील स्त्रियां इन गोपनीय प्रसंगों के संदर्भ में स्पष्टतया नहीं कह सकतीं। अतएव ऐसे नाजुक मामलों में नारी का साक्ष्य नहीं स्वीकार करना चाहिए। यदि प्रयोग में शामिल बहनें बिना कुछ छिपाए सत्य भाव प्रकट करती भी हों, तो क्या इस प्रकार के प्रयोग भारतीय संस्कृति के अनुकूल हैं ? इन प्रयोगों के, भारतीय परम्परा के अनुकूल होने न होने की बात तो बाद में आती है, किसी भी चिन्तक ने स्पष्ट एवं बिना झिझक इस यज्ञ की चर्चा तक करने का साहस नहीं किया है और बड़े ही संक्षिप्त ढंग से अपूर्ण तथ्यों को पाठकों के सामने रखा है। कारण अज्ञात हैं।

महात्मा गांधी ने कहा कि जिसे रक्षा की जरूरत हो वह ब्रह्मचर्य ही नहीं। पुत्र जिस प्रकार माँ के पैर दबाता है उसी प्रकार स्त्री-मात्र का स्पर्श करे तो दोष नहीं। निर्विकार स्पर्श में तो वास्तव में कोई दोष नहीं है, परन्तु ऐसे निर्विकार स्पर्शों का प्रचलन भी खतरे से खाली नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि इसमें यदि फूल खिले तो विष के ही फूल झड़ेंगे; अमृत-वर्षा कदापि संभव नहीं। जैन कथा में कहा है कि एकासन पर बैठने से संसर्ग होता है, संसर्ग से स्पर्श, स्पर्श से तीव्र विषय-वासना की जागृति, विषय-वासना की जागृति से संयोग होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का नाश होता है। ऐसे अनेकों किस्से सुने भी गये हैं। स्त्री-पुरुष के स्पर्श की बात तो है ही, स्त्री-स्त्री एवं पुरुष-पुरुष के निरर्थक स्पर्श को भी स्वस्थ व्यवहार नहीं कहा जा सकता और हैवलीक एलिस जैसे मनोविज्ञान-शास्त्री तो जो कुछ अर्थ निकालेंगे वह स्पष्ट है ही। विनोबा एवं मश्रुवाला भी इसे उचित नहीं ठहराते हैं। मश्रुवाला

कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी है और डंके की चोट यह कह सकता है कि कैसी भी विषम परिस्थिति में वह डिगेगा नहीं, तो क्या सांसारिक मर्यादाओं को मानते हुए चलने से उसका ब्रह्मचर्य अपूर्ण माना जायगा ? यदि संसार न भी जाने कि उसके ब्रह्मचर्य में कितनी शक्ति है तो इससे क्या ? किसी ने यदि चमत्कारपूर्ण शक्तियां अर्जित की भी हों, तो भी सीखने वाली को तो उसे बिलकुल शुरू से, क-ख-ग से, ही सिखलाना आरम्भ करना होगा। कोई एक व्यक्ति परम साधक हो सकता है, पर करोड़ों के लिए आदर्श रखा जा सके ऐसा ही आचरण उसका भी होना चाहिए। क्योंकि "गतानुगतिको लोको न लोको पारमार्थिकः।" स्पर्शेन्द्रियां सारी त्वचा पर फैलती हुई हैं, और वे कभी भी, कहीं से भी, विकार पैदा कर सकती हैं। न भी करें तो जिस स्पर्श से, जिस एकान्त प्रयोग से कोई लाभ नही, वह किया ही क्यों जाय ? अहिंसक के समीप वैर नहीं टिकता, इसलिए एक-शय्या-शयन का प्रयोग क्यों ? क्या गांधीजी सिर्फ यह देखना चाहते थे कि उनके ब्रह्मचर्य के प्रभाव से बहनें प्रभावित होती हैं अथवा नहीं ? आखिर इस प्रयोग का प्रयोजन पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता।[२६]

कहीं यह जाँचने के पीछे कि उनका ब्रह्मचर्य अपूर्ण तो नहीं रह गया है, कोई अपराध-भावना तो नहीं छिपी थी जो गुप्त रूप से उनकी ब्रह्मचर्यशक्ति को ललकार रही थी ? अर्थात् कहीं वास्तव में उनका ब्रह्मचर्य अपूर्ण तो नहीं था ? परीक्षा को तो तभी आवश्यकता होती है जब संदेह होता है। पूर्ण ब्रह्मचारी के मन में संदेह हो ही क्यों ? अथवा जनता पर प्रभाव डालने की आकांक्षा ही क्यों हो ? यदि प्रभाव पड़नेवाला होता तो स्वयं स्वाभाविक रूप से प्रभाव पड़ता और किसी प्रयोग को प्रतीक्षा तो कदापि न करनी पड़ती। कुछ पाश्चात्य विचारकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि गांधीजी ने उस वृद्धावस्था में ये प्रयोग किए जब कि पुरुषेन्द्रिय प्राकृतिक रूप में स्वयं ही विकार-हीन हो जाती है। और, स्त्रीत्व आ गया है या नहीं, वह परीक्षा करना क्या असामान्य मानसिक अवस्था का द्योतक नहीं है ? हो सकता है कि जैसे बच्चे माता के प्यार-दुलार के भूखे होते हैं, वृद्धावस्था में गांधीजी को भी नारी-स्नेह की आवश्यकता महसूस हुई हो। किंग लियर की तरह, तब, जबकि सभी बन्धु-बान्धवों से वे बिछुड़ गए थे।[२६]

मनोविज्ञान की दृष्टि में "अचेतन" मन द्वारा ही मानव-जीवन के सारे कार्यकलाप अधिशासित होते हैं। इन प्रयोगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए हमें यह नहीं विचारना है कि प्रयोग में शामिल सभी तथ्यों के साथ न्याय हुआ है अथवा नहीं। हमें देखना यह है कि उद्गम कहाँ है इन असामान्य प्रयोगों का? कहीं आत्मप्रेम, स्पर्श-सुख अथवा नग्न-प्रियता तो इसके स्रोत में नहीं? अचेतन की अग्निपरीक्षा के बाद भी क्या यह ब्रह्मचर्य यथावत् खड़ा रह पाता है? हमें "अचेतन" का स्पष्टीकरण "चेतनतया" चाहिये। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जब एक इन्द्रिय शिथिल पड़ जाती है तब दूसरी इन्द्रिय-शक्ति 'बहुगुणित' हो जाती है। अतः उस वृद्धावस्था में 'स्पर्शानुभूति' द्वारा 'सम्पूर्ण सुखानुभूति' हो जाना परम स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य की ढाल पूरक-संतुष्टि का साधन है या 'आत्मपरीक्षण' का? फ्रायड और फेनिकल वे 'पुंस्त्व-हरण' के आधार पर इसकी व्याख्या की है। परन्तु, नीतिप्रिय गांधी को चेतनतया अचेतन के इस षड्यंत्र का पता तक न चला हो, ऐसा भी सम्भव है। युंग के अनुसार ऐसा व्यवहार मात्र प्रतिक्रिया है। तो क्या ऐसा सोचना स्वाभाविक नहीं कि इन प्रयोगों द्वारा न केवल ब्रह्मचर्य बल्कि गांधीजी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक बहुत बड़े परिवर्तन से बेदाग बच गया है?

मानव-सामाजिक संस्कृतिक-गत्यात्मक सम्प्रदायवालों ने, वातावरण को अधिक प्रमुख माना है फ्रायडवाद के जीवतत्व से। सम्पूर्ण क्रांति के मूल में, समाज, संस्कृति और वातावरण का जोरदार हाथ होता है। इसीकारण स्प्रैट आदि ने गाँधी के व्यक्तित्व को एक दंडकारी प्रकार माना है। दोषभावना के दृढ़ीकरण से क्रमशः 'दण्डकारी प्रवृत्ति' का, 'प्रतिशोध-भावना' का, कठोर संयम का, संयम में मिली सफलता के कारण 'अहम्' का, और फलात् सबसे अंत में 'आत्मपरीक्षण' अथवा अंतिम प्रयोगों का, शृंखलाबद्ध रूप में वर्तमान रहना एडलर के अनुसार मात्र 'पुरुषत्व क्रांति' हैं।

कुछ विदेशी लेखकों ने महात्मा जी की शय्या पर सेविकाओं द्वारा अनावृत रूप में उनकी देह-सेवा किये जाने का आरोप किया है। कहा गया है कि वे सेविकाओं के साथ भी निर्विकार रूप से विस्तर पर रहते थे। किन्तु संभवतः विदेशी दृष्टि में निर्विकार सेवा-भावना का वह उन्नत रूप सही अर्थ में ग्रहण नहीं किया गया है।[२८]

मेरी दृष्टि में तो गीता में दिए भगवान कृष्ण के मार्ग-दर्शन को ही सही ठहराना चाहिए, अर्थात् "न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन"। भगवान् कृष्ण के लिए स्वयं तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं था, परन्तु फिर भी वे कर्म में निरन्तर प्रवृत्त रहे। जनक जैसे महाज्ञानी भी ऐसा ही करते रहे। अतः गाँधी जैसे महात्मा के कर्म भी ऐसे ही होने चाहिए। परन्तु क्या वे कर्म सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय हैं? क्या वे समय से परे नहीं हैं? नेहरूजी ने भी इस संबंध में कुछ ऐसा ही कहा है।

गांधीजी की मान्यता थी कि नोआखाली में प्रज्वलित अग्नि उनके ब्रह्मचर्य के प्रभाव से स्वयमेव क्षीण होकर नष्ट हो जायगी। परन्तु एक ओर जहाँ गांधीजी ने आततायियों और हिंसकों तक को अपने यज्ञ से प्रभावित करना चाहा, वहाँ दूसरी ओर उनके निजी सहायक श्री परशुराम, निजी सचिव, श्री निर्मल कुमार बोस, गाँधीजी से दूर हो गये। उनके ऊपर इस सबका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दोनों न केवल उनके अतिनिकट थे, अपितु परमभक्त भी थे। यही नहीं, श्री मशरूवाला और नरहरि पारीख सदृश प्रख्यात गांधीवादी "हरिजन" के सम्पादन तक से अलग हट गये, एवं कुछ अन्य घनिष्ठ मित्रों एवं भक्तों को भी उनके प्रयोग पर आपत्ति हुई।[२८]

चूँकि एक ओर निर्मल बोस स्पष्टरूप से पूरे प्रयोग का वर्णन नहीं करते, और दूसरी ओर श्री तंदुलकर अपने बृहत् ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखते हैं कि कुछ सहकर्मियों के यह कहने से कि 'गांधीजी के कुछ पत्र उन लोगों ने नष्ट कर डाले, उन्हें कष्ट का अनुभव हुआ,' ऐसी अवस्था में हम अर्ध अन्धकार में ही रह जाते हैं।

ये सभी तथ्य हमारे सामने एक बड़ा प्रश्नचिह्न छोड़ते हुए हमें निर्णय और अनिर्णय के बीच रख देते हैं। क्या महात्माओं की भावनाओं का मूल्यांकन साधारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उच्च किसी और दृष्टिकोण से भी हो सकता है? अथवा क्या मोहिनी महामाया मोहनदास जैसे महात्माओं के मन को भी मोहान्वित कर सकने में समर्थ हो सकती है? क्या निर्मल कुमार बोस के शब्दों में उनका मन स्त्रियों के साथ व्यवहार में "मोहभाव से ग्रस्त" था?[२९] अथवा वहाँ असीम वात्सल्य का सागर लहरा रहा था जो लौकिक पैमानों की क्षुद्र परिधि में नहीं समा सकता?

जिस प्रकार गीता एवं भागवत में वर्णित योगीश्वर श्री कृष्ण के गहन कर्मयोग तक पहुंचना दुष्कर है, उसी प्रकार महात्मा गांधी के अति दुस्तर ब्रह्मचर्य-प्रयोगों को भी पूर्णतः समझ पाना कठिन है।

सहायक पुस्तकों की सूची

	पुस्तक	लेखक	संकेत
१.	अथर्ववेद	—	१, २
२.	ब्रह्मचर्य	महात्मा गांधी	३, ४, १७
३.	ब्रह्मचर्य के अनुभव	,,	५
४.	मनुस्मृति	—	६, ७
५.	मंगल प्रभात	महात्मा गांधी	८, ९
६.	नीति नाशने मार्गे	,,	१०, ११
७.	शील की नव बाड़ (भूमिका)	श्रीचन्द रामपुरिया	१२, १४, १५, २६ (विशेषतः पृष्ठ ७२-९२)
८.	दी लाइफ ऑफ महात्मा गांधी	लूइ फिशर	१३, १८, २४, २६
९.	स्टडीज इन दी साइकोलौजी ऑफ सेक्स	हैवलॉक एलिस	१९
१०.	पतन की परिभाषा	परिपूर्णानन्द वर्मा	२०
११.	शृंगार शतकम्	भर्तृहरि	२१
१२.	नीति शतकम्	भर्तृहरि	२२
१३.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आ० महावीर प्र० द्विवेदी	२३
१४.	बापूजी घर में	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	२५
१५.	गांधीज ट्रुथ	प्रो० ई० एच० इरिकसन	२७ (विशेषतः पृष्ठ ४६०, नोट ४)
१६.	माई डेज विद गांधी	प्रो० निर्मल कुमार बोस	२८, २९ (विशेषतः पृष्ठ ११५-१६०)
१७.	आत्मकथा	महात्मा गांधी	
१८.	आत्म संयम	,,	
१९.	हिन्दू-धर्म	,,	
२०.	बापू के आशीर्वाद	,,	

२१.	बापू के कदमों में	डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
२२.	बापू का संदेश	परशुराम मेहरोत्रा
२३.	महात्मा	जी० डी० तन्दूलकर
२४.	महात्मा गांधी: दी लास्ट फेज	प्यारे लाल
२५.	महापुरुषों के साथ	सेठ गोविन्द दास
२६.	अस्वीकृति में उठा हुआ हाथ	आचार्य रजनीश
२७.	गांधी सिरीज	

★

गाँधी-दर्शन में ब्रह्मचर्य का आदर्श

(प्रो० डा० श्रीमती इंदिरा शरण)

ब्रह्मचर्य की महिमा सभी धर्मग्रन्थों में पाई जाती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ऐसे मार्ग पर चलना जिससे मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से महान् बन सके। गाँधीजी के अनुसार ब्रह्मचर्य साधु और गृहस्थ, दोनों के लिये ही अत्यन्त महत्व का विषय है। म० गाँधी के ब्रह्मचर्य को समझना सरल कार्य नहीं है। गाँधीदर्शन को समझने के लिये गाँधीजी के समान महापुरुष होना आवश्यक है। म० गाँधी ने लिखा है—"मन, वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है।" ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक संयम मात्र नही है, बल्कि उसका अर्थ है सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मनसा-वाचा-कर्मणा काम-वासना का परित्याग। इस रूप में वह आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्मप्राप्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है।[1]

ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म के सत्य की खोज की चर्या, अर्थात् तत्-सम्बंधी आचार। इस मूल अर्थ में सर्वेन्द्रिय-संयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रिय संयम रूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल ही जाना चाहिये। उन्होने अन्य स्थान में भी कहा है—"ब्रह्मचर्य क्या है ? वह जीवन की ऐसी चर्या है जो हमे ब्रह्म—ईश्वर—तक पहुँचाती है। इसमें जननक्रिया पर सम्पूर्ण संयम का समावेश हो जाता है। यह संयम मन,वचन और कर्म से होना चाहिये।[2]

श्री विनोवा भावे के अनुसार ब्रह्मचर्य शब्द का मतलब है....ब्रह्म की खोज में अपना जीवनक्रम रखना....सबसे विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना।[3]

१—ब्रह्मचर्य (प्रथम भाग)

२. सेल्फ रिस्ट्रेन्ट एण्ड सेल्फ इन्डलजेंस

३. कार्यकर्त्ता वर्ग : ब्रह्मचर्य, पृ० ३१-३२

वेद में ब्रह्मचर्य को परिभाषा इस प्रकार है—"वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिये आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। इसी ब्रह्मचर्य के तप से राजा अपने राज्य को पुष्ट करता है और आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाने की इच्छा करता हैं।"[1] वेदों में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य शब्द मिलते हैं।[2] शतपथ आदि प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्मचर्य शब्द उपलब्ध है। इससे प्रमाणित होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम की कल्पना का बीज वेदों में उपलब्ध था। महर्षि सायण ने "ब्रह्मचारी" शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है—"ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलं यस्य सः।"[3] वेदात्मक ब्रह्म को अध्ययन करना जिसका आचरण या शील है, उसे "ब्रह्मचारी" कहते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम का प्रमुख लक्ष्य था बालक को विद्यार्जन कराना। इसके लिये बालकों को गुरुकुल भेज दिया जाता था। इस आश्रम में सभी प्रकार के दैहिक एवं मानसिक भोग-विलासों को छोड़ना पड़ता था। मांस-भक्षण, राजसी वस्त्र-धारण स्त्री-सेवन इत्यादि को निषिद्ध समझा गया था। इस प्रकार इन्द्रिय-संयम, नियम, मन की पवित्रता, शारीरिक व्यायाम, प्राणायाम एवं संध्या, पूजा, जप इत्यादि कर्मों के साथ एकाग्र चित्त होकर अध्ययन करना ही ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य लक्ष्य है। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम जीवन की अन्य अवस्थाओं के लिए एक आवश्यक पृष्ठभूमि है। मनु ने तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य की कल्पना की है—शारीरिक ब्रह्मचर्य, मानसिक ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक 'ब्रह्मचर्य। उनके अनुसार ब्रह्मचारी को इन तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

जैन-दर्शन के पंचमहाव्रत में भी ब्रह्मचर्य की व्याख्या की गई है। जैन दर्शन के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ है, सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग। बहुत से लोग ब्रह्मचर्य से केवल कौमार्य-जीवन समझते हैं। जैन इससे केवल इन्द्रियसुखों का ही नहीं, बल्कि सभी कामनाओं का परित्याग समझते हैं। कुछ लोग कर्म के द्वारा तो इन्द्रिय-सुख का उपभोग बन्द कर देते हैं, किन्तु, मन और वचन के द्वारा उनका उपभोग करते ही रहते हैं। अतः ब्रह्मचर्य का पालन "मनसा वाचा कर्मणा" होना चाहिये। ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन करने के

---

१. अथर्ववेद ११. ५. १७ सायण

२. ऋग्वेद, १०. १०९ अथर्ववेद, ५. १७. ५; तैत्तिरीय संहिता ३. १०. ५

३. अथर्ववेद ११. ५. १ सायण भाष्य

लिये सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करना पड़ता है, चाहे कामनाओं के विषय आन्तरिक हो या बाह्य, सूक्ष्म हों या स्थूल, ऐहिक हों या पारलौकिक, अपने लिये हों या दूसरों के लिये। बौद्धधर्म में भी ब्रह्मचर्य को महत्वपूर्ण स्थान दियागया है। बुद्ध कहते हैं: "ब्रह्मचर्य निर्जल अर्थात् शुष्क भूमि है।"[२] "ब्रह्मचर्य" शब्द का प्रयोग सभी धर्मों में करीब-करीब समान अर्थ में किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महात्मा गांधी, सन्त विनोबा भावे आदि आधुनिक विचारकों का चिन्तन प्राचीन शास्त्रीय विचार से भिन्न नहीं है।

प्रश्न है कि यदि हर कोई ब्रह्मचर्य का ही जीवन व्यतीत करे तो सृष्टि का मानव-सर्जनात्मक विकास कैसे हो? अतः शास्त्रकारों ने निर्णय किया कि पुत्रोत्पादनके लिए विवाह उचित है। साथ ही त्यागी, साधु, महात्माओं के अतिरिक्त साधारण अपुत्र मानव की गति नहीं होती, ऐसा धर्मशास्त्र कहता है। अतएव वैवाहिक जीवन में संयम-नियमपूर्वक गार्हस्थ्य-धर्म का पालन भी एक प्रकार का ब्रह्मचर्य ही कहा जायगा।

म० गाँधी ने भी पुत्र की इच्छा को भोगेच्छा से पृथक् माना है। उन्होंने भोगेच्छा को विकार माना है, सन्तानेच्छा को नहीं। स्त्री-सेवन के दो प्रयोजन हो सकते हैं—(१) वासनात्मक तृप्ति, (२) आवश्यकतावश पुत्रोत्पादन। आदर्श वैवाहिक जीवन का यह नियम होना चाहिये कि पति-पत्नी बिना आवश्यकता के पुत्रोत्पत्ति न करें। म० गाँधी की दृष्टि से स्त्री-सेवन एक ही सन्तान के लिए हो सकता है, उसके बाद नहीं होना चाहिये। टॉलसटॉय के अनुसार कर्त्तव्यपूर्वक जितनी सन्तानों के पालन की क्षमता दम्पति में हो, उतनी सन्तानों के लिये हो सकता है। पत्नी को भोग और आमोद-प्रमोद की सामग्री समझना व्यभिचार है। किन्तु जैनदृष्टि से वासनातृप्ति और सन्तानोत्पत्ति, ये दोनों ही दोषपूर्ण हैं। संतान की कामना स्वयं एक वासना है। स्त्री-सेवन भले ही किसी भी हेतु से हो, इन्द्रियों के विषयों का सेवन होता ही है। नाना प्रकार की मोहजनित चेष्टाएँ होती हैं। ये सब विकार हैं। सन्तानोत्पत्ति में स्वधर्म-पालन जैसी कोई बात नहीं। अपने पीछे अपना वारिस छोड़ जाने की भावना में मोह और अंहकार ही है,

---

१—सूत्रकृतांग २. ५. १

२—संयुक्त निकाय, १. ८. ६

३. स्त्री और पुरुष (पृष्ठ १०२)

अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करनेवाला ब्रह्मचारी ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह भी भोगी कहा जायगा, क्योंकि अशुद्ध साधन से लक्ष्य शुद्ध नहीं हो सकता।[1]

परिश्रम और किसी ध्येय में रात-दिन लगे रहने से ब्रह्मचर्य का पालन सुकर हो जाता है। स्वाध्याय में तन्मय रहने से कामविकार उत्पन्न नहीं होते है। तन्मयता एक बड़ी शक्ति है। किसी एक ध्येय में तन्मय हो जायँ और रात-दिन उसे अभीष्ट फल की बात सूझे, तब ब्रह्मचर्य पूर्णरूप से सध सकता है। भीष्म ने अपने पिता के लिये ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी। उसी तरह से गांधीजी ने आरम्भ किया। उनका अन्तिम लक्ष्य था समाजसेवा। इस महान् ध्येय में वे आजीवन लगे रहे। विनोबा जी ने भी इसका समर्थन किया है। वे ब्रह्मचर्य को विशाल ध्येयवाद और तदर्थ संयमाचरण कहते हैं।

ब्रह्मचारी का सबसे विशाल ध्येय है आत्मशोधन। जो रात-दिन आत्मशोधन में लगा रहता है, उसका ब्रह्मचर्य अपने आप सधता है। पुराणों में अत्रि ऋषि और सती अनुसूया की कथा ऐसी ही आदर्शवाली है। वे विवाहित दम्पति थे, लेकिन ऋषि का यौवनकाल अपने अभ्यास में और सती की युवावस्था ऋषि के लिये सुविधाएँ जुटाने और कामकाज में ऐसी बीत गई कि बुढ़ापा कब आ गया, इसका अत्रि ऋषि को पता ही नहीं चला। इस कथा में अतिशयोक्ति है, लेकिन ब्रह्मचारी के लिये अभ्यासपूर्ण जीवन बिताने का एक उत्तम आदर्श बताया गया है। जॉन डाल्टन को बुढ़ापे में किसी ने पूछा—"आप किस उद्देश्य से अविवाहित रहे?" थोड़ी देर के बाद वे बोले—"मेरा जीवन विज्ञान के अध्ययन में कैसे बीत गया, इसका मुझे पता नहीं चला। मेरे मन में यह विचार ही कभी पैदा नहीं हुआ कि विवाह किया जाय या न किया जाय, अथवा मैं विवाहित हूँ या अविवाहित।"[2]

ब्रह्मचर्य-पालन के लिए तरह-तरह के यम, नियम तथा निरोध बताये गये हैं। आगम में ब्रह्मचारी के शयन, वासस्थान, आसन एवं उठने-बैठने के स्थान के संबंध में यह कहा गया कि जिस स्थान में मन विभ्रम को प्राप्त हो उस स्थान का वर्जन करे। ब्रह्मचारी का शयन-आसन विविक्त एकान्त में होना चाहिए, जिससे उसकी साधना भंग न हो।

---

१. शील की नववाड़।

२. स्त्री-पुरुष-मर्यादा (पृष्ठ २४-२६)

ब्रह्मचारी साधु के लिए यह नियम है कि वह स्त्री के साथ एक शय्या या आसन पर न बैठे। इस नियम की आवश्यकता मनु आदि ऋषि भी महसूस करते थे। परस्पर सान्निध्य न करने के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण हैं। स्त्री-पुरुष के सान्निध्य से मनोविकार उत्पन्न हो सकते हैं। सान्निध्य तभी ठीक समझा जा सकता है यदि हम अपने हृदय को कलंकित न होने दें। परन्तु ऐसे संबंध बड़े नाजुक होते हैं। "आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र से तुच्छ वैषयिक क्षेत्र में उतर आना सबके लिए सहज है।" १

लाखों मनुष्यों में कोई बिरले स्त्री-पुरुष ही ऐसे हो सकते हैं, जो मर्यादा के बन्धन में न रहते हुए भी पवित्र रहें। वे अपनी उम्र हमेशा पाँच वर्ष के बालक जितनी ही अनुभव करते हैं और दूसरे स्त्री-पुरुषों के लिए माता या पिता अथवा लड़की या लड़के के सिवा दूसरी दृष्टि को समझ ही नहीं सकते। ऐसी साध्वी स्त्री या साधु पुरुष पूजने लायक है।" २ महात्मा गाँधी ऐसे ही दुर्लभ महापुरुषों में थे।

म० गाँधी ने ब्रह्मचर्य के साधनों में उपवास को भी निभाया है। इन्द्रिय-दमन के लक्ष्य से जो उपवास किया जाता है उस उपवास से सभी इन्द्रियों को अपने वश में लाने में सहायता मिलती है। इसलिए ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए जब कभी भी आवश्यक हुआ, उन्होंने उपवास किया।

गाँधीजी के अनुसार नैतिक आत्मबल के लिए "रामनाम" रामबाण है। जिसे ईश्वर पर श्रद्धा एवं विश्वास है उसके लिए ब्रह्मचर्यपालन आसान है। म० गाँधी ने सम्मान, प्रार्थना, उपासना, ईश्वर में विश्वास—इनको ब्रह्मचर्य-रक्षा की साधना में अनन्य स्थान दिया है। वे लिखते हैं—"ब्रह्मचर्य की रक्षा के अन्य जो नियम माने जाते हैं, वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा रामनाम है। विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा कोई मंत्र है।३ जिसकी जैसी भावना हो, वैसे ही मंत्र का वह जप करे। हम जो मंत्र अपने लिए चुनें, उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिए।" विकाररूपी मल की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जड़ी है। ४

१—स्त्री और पुरुष, पृ० १४२।

२—स्त्री और पुरुष-मर्यादा, पृ० ३९-४१।

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०३।

४—गाँधी-वाणी, पृ० ७४।

कुछ आलोचकों ने गाँधीजी के ब्रह्मचर्य के आदर्शों के नये प्रयोग पर आलोचना की है। विलायत से लौटने के बाद गाँधीजी ने परिवार के बच्चों को अपनी निगरानी में ले लिया और उन्हें परिवार के बालक-बालिकाओं के कंधों पर हाथ रखकर घूमने की आदत पड़ गई। उन बच्चों के बड़े हो जाने पर भी यह आदत जारी रही। बाद में यह आदत आश्रम की बहनों के साथ भी चली। इस आदत की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा। म० गाँधी ने लिखा है—"पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सबके सामने करे, उसमे मैं दोष नहीं देखता। मेरा स्पर्श उसी प्रकार का है। मैं कभी एकान्त में नहीं होता। मेरे साथ रोज बालिकाएँ घूमने को निकलती हैं, तब उनके कंधे पर हाथ रखकर मैं चलता हूं। उस स्पर्श की निरपवाद मर्यादा है, वह वे बालिकाएँ जानती हैं और समझती हैं।"[1] शुद्ध मानसिक स्थिति के होने पर भी उन्हें यह प्रयोग बन्द करना पड़ा, क्योंकि दुनिया नकल करने में आगे है। उन्होंने एक बहन को लिखा भी था—"लड़कियों के कन्धे पर हाथ रखना बन्द किया; उसके साथ मेरी विषय-वासना का कोई संबंध नहीं।"[2]

दक्षिण अफ्रिका में म० गांधी स्त्री-पुरुषों की प्राकृतिक चिकित्सा किया करते थे। सेवाग्राम में स्त्री पुरुष परस्पर रोगी की परिचर्या करते। स्वयं बापू भी बहनों से मालिश और औपचारिक स्नान करवाते। इन बातों की भी आलोचना हुई। सबसे अधिक आलोचनाओं की आँधी तो तब आई जब नोआखाली में उनकी पौत्री मनु गांधी उनके एक बिस्तर पर सोने लगी। बापू और उनकी पोती की दृष्टि में यह सर्वथा निर्दोष होते हुए भी कुछ आलोचकों ने बवडर खड़ा कर दिया और कुछ लोगों ने तो उनका साथ भी छोड़ दिया।[3] मालिश के विषय में गांधी जी ने एक जगह कहा है—"मालिश और औपचारिक स्नान—ये बातें ऐसी हैं, जिनके लिये मेरे आस-पास के व्यक्तियों में डाक्टर सुशीला नैयर सबसे अधिक योग्य हैं। उत्सुक व्यक्तियों की जानकारी के लिये यह बतला दूं कि ये काम तनहाई में कभी नहीं किये जाते। ये काम डेढ़ घंटे से भी अधिक देर तक होते रहते हैं, और इसके बीच में प्रायः सो जाता हूँ....या दूसरे साथियों के साथ काम भी

१—नवजीवन २८।७।२६

२—बापुनो पत्रो (पृष्ठ २३६)

३—शील की नव बाड़ (देखिए, भूमिका, पृष्ठ ७२-९३)

करता हूँ।"[१] म० गाँधीजी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि उनके जीवन में कोई गोपनीयता नहीं है। अगर वासना की ओर उनका झुकाव होता तो उनमें इतना साहस और नैतिक आत्मबल था कि वे उन कमजोरियों को स्वीकार कर लेते।

ब्रह्मचर्य की परीक्षा के लिए स्त्रियों का सहारा लेना श्री निर्मल कुमार बोस जैसे आलोचकों को आपत्ति जनक मालूम हुआ। उनका कहना था कि इस प्रयोग का मूल्य खुद गाँधीजी के जीवन में कितना ही क्यों न हो, पर क्या उसका असर दूसरों के व्यक्तित्व के लिये वांछनीय था, जो नैतिक स्तर में उतने ऊँचे नहीं थे और जिनके लिये इस प्रयोग में शरीक होना कोई आध्यात्मिक आवश्यकता नहीं थी?[२]

श्री बोस के विवरण से पता चलता है कि श्री मशरूवाला और श्रीनरहरि परीख भी आपत्ति करनेवालों में थे। उनकी आलोचनाओं का सारांश यह था कि महात्मा गाँधी ने ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में इस प्रयोग के पीछे जो दृष्टियाँ बतलाई हैं, वे ऐसी नहीं जो सहज में हृदयंगम हो सके। मनु बहन के मन की स्थिति के परीक्षण के लिये ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। मनु बहन जैसी निश्छल कन्या अपने पितामह को अपने मनोभाव बिना प्रयोग के ही सही-सही कह देगी, ऐसा विश्वास महात्मा गाँधी को होना चाहिये था। जो बात बातचीत में जानी जा सकती थी, उसके लिये ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। सम्पर्क में आनेवाली बहनों के मनोभावों को जानने के लिये ऐसे प्रयोग को सार्वभौम नहीं बनाया जा सकता। मनु बहन को एक आदर्श नारी के रूप में निर्माण करने की भावना के साथ भी सह-शय्या का प्रयोग करना कोई अनिवार्य नहीं था।[३]

कुछ आलोचकों ने यह प्रश्न भी उठाया कि गाँधीजी के मनु गाँधी के साथ एकान्त में रहना कहाँ तक धार्मिक मर्यादा के अनुकूल है? मनुस्मृति के अनुसार माँ-बहन-बेटी के साथ भी आपत्काल के बिना एकान्त में न रहना चाहिये।

"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवान् इंद्रियग्रामो विद्वांसम् अपकर्षति।

१—ब्रह्मचर्य, भाग २ (पृष्ठ २८)

२—माइ डेज विथ गाँधी, (पृ० १२८, १३४)

३—शील की नव बाड़ (भूमिका, पृ० ९१)

महात्मा गाँधी के इन प्रयोगों में स्त्रियों के साथ एक स्थान में वास, एक शय्या, एकान्त भाषण और स्त्री-स्पर्श का वर्जन नहीं हुआ। यहाँ प्रश्न उठता है, क्या ऐसी स्थितियों में महात्मा गाँधी को ब्रह्मचारी कहा जा सकता है? महात्मा गाँधी ने इन सारे प्रयोगों के अवसर पर अपनी मानसिक स्थिति को सम्पूर्णतः निर्विकार बतलाया है। उन्होंने कहा है - "पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सबके सामने करे, उसमें मैं दोष नहीं दीखता। मेरा स्पर्श उसी प्रकार का है।" इस व्यवहार के बीच कभी कोई अपवित्र विचार उनके मन में नहीं आया। उनका आचरण कभी छिपा नहीं रहा है और पिता के समान रहा है। उन्होंने कहा भी है, ".मेरे लिए तो इतनी सारी स्त्रियाँ बहनें और बच्चियाँ ही थीं।"[१]

विशेष परिस्थितियों में बाप-बेटी आदि भी निर्विकार भाव से एक दूसरे का स्पर्श कर सकते हैं। परन्तु ऐसी स्थितियाँ जीवन में थोड़ी ही होती हैं। ऐसी परिस्थितियों को छोड़कर स्पर्श-वर्जन सार्वजनिक और सार्वकालिक नियम रहा है। गृहस्थ जीवन में जहाँ माता-पुत्र, भाई-बहन जैसे संबंध हैं, वहाँ अनिवार्य शरीर-स्पर्श, मर्यादा के साथ, हर समाज में स्वीकृत हैं। उपर्युक्त संबंधों में, परिचर्या आदि में, आवश्यकतावश निर्विकार स्पर्श किसी भी समाज में गृहस्थों के मर्यादित ब्रह्मचर्य का उल्लंघन नहीं माना गया है। महात्मा गाँधी की यह उक्ति है कि पुत्र अपनी माँ के पैर दबा सकता है, क्योंकि यह निर्विकार स्पर्श है। परन्तु इसी प्रकार निर्विकार भाव से कोई स्त्री मात्र का स्पर्श करे तो दोष नहीं, ऐसा निष्कर्ष निकालना भी उचित नहीं। यदि समाज में ऐसे निर्विकार स्पर्श का प्रचलन हो जाय, तब ब्रह्मचर्य का आदर्श कहाँ तक टिक सकता है? महात्मा गाँधी के स्पर्शमूलक प्रयोगों पर निर्विकार पुत्र का माता के पैर दबाने का उदाहरण सब पर लागू नहीं किया जा सकता।[२]

महात्मा गाँधी के अनुसार ब्रह्मचारी के लिये स्त्री, पुरुष, पत्थर, मिट्टी आदि का स्पर्श एक-सा होना चाहिये। ब्रह्मचर्य-पालन में सबसे बड़ी चीज है स्त्रीमात्र में माता, बहन या पुत्री-भाव का साक्षात्कार करना। महात्मा गाँधी ने इसका अक्षरशः पालन करने की दिशा में अनवरत साधना की।

१—माइ डेज विथ गाँधीजी, (पेज ७३)
२—शील की नव बाड़ (भूमिका, पृ० १०५)

कुछ आलोचकों ने महात्मा गांधी जी के ब्रह्मचर्य-विषयक प्रयोगों पर आक्षेप किया है। मनुष्य ईश्वर नहीं है। मनुष्य में कुछ दुर्बलताएँ हैं और रहेंगी ही। महात्मा गांधी की महानता है कि उन्होंने अपनी सभी कमजोरियों को स्पष्ट रूप से बताया और उनसे ऊपर उठ गये। तभी तो वे इतने महान् हो सके और संसार के सामने आदर्श रख सके। शायद ही कोई व्यक्ति होगा जो अपनी अन्तरात्मा को इतने स्पष्ट रूप से खोल सके। यह स्पष्टवादिता उनके नैतिक चरित्र की महत्ता को प्रदर्शित करती है। उनका चरित्र एवं मनोबल इतना ऊँचा था कि उन्होंने अपनी सभी अपूर्णताओं को स्पष्ट रूप से बिना दुराव-छिपाव के या बिना हिचकिचाहट के जनता के समक्ष रख दिया। परन्तु साधारण जनता उनके अत्युच्च आदर्श को सही रूप में नहीं समझ पाती। केवल ऊपरी निरीक्षण के आधार पर तुरन्त किसी निर्णय पर पहुँच जाना सत्यान्वेषी के लिए अशोभनीय है। तपः पूत महात्मा पर अब्रह्मचर्य का आरोप उचित नहीं। वृद्धावस्था में साधारण व्यक्तियों में भी काम-विकार नहीं होते और महात्मा गांधी तो जितेन्द्रियता के प्रतीक ही थे। वह असाधारण कोटि के साधक थे और उनके ब्रह्मचर्य का आदर्श सामान्य स्तर के विधि-निषेधों से बहुत ऊपर था।

☆

गांधीदर्शन में ब्रह्मचर्य का आदर्श

सुश्री प्रो० रमा सेन

समकालीन भारतीय विचार-धारा में महात्मा गांधी का स्थान सर्वोपरि है। उनका सम्पूर्ण जीवन उन नैतिक आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने का एक प्रयोग है जिन्हें उन्होंने अपने जीवन-दर्शन के सिद्धांतों के रूप में स्वीकार किया। भारतीय दर्शन की परम्परा को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है कि मनुष्य के जीवन का चरम आदर्श पूर्णता की प्राप्ति होना चाहिए। पूर्णता की प्राप्ति का अर्थ है अपने जीवन में ईश्वरत्व को प्राप्त करना। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर मनुष्य की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक क्रियाएँ संचालित होनी चाहिए। गांधी ने आध्यात्मिक एकता (Spiritual Unity) के सिद्धान्त में विश्वास किया है। अतः ईश्वर की प्राप्ति का सबसे अच्छा साधन है मानव-सेवा का व्रत जो उनकी विचार-धारा में "सर्वोदय" के नाम से प्रसिद्ध है।

म० गांधी के अनुसार नैतिकता जीवन का आधार है। व्यक्ति और समाज का अस्तित्व और उनकी प्रगति नैतिकता पर ही निर्भर करती है। नैतिकता के कारण ही मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। अगर इन्हें संयमित करके नहीं रखा जाय तो ये पूरी मानव जाति को विनाश की ओर ले जाती हैं। जीवनरक्षा-मूल्य (Survival-Value) के रूप में नैतिकता अनिवार्य है। इसका विकास एकाएक नहीं होकर क्रमिक रूप में मानव-विकास के साथ-साथ हुआ है। मानव-प्रगति में नैतिकता के सिद्धांत पथ-प्रदर्शक का काम करते आ रहे हैं।

नैतिक जीवन का आदर्श है ईश्वर की प्राप्ति। लेकिन ईश्वर एक अमूर्त सत्ता है। फिर उसकी प्राप्ति का अर्थ क्या है? उसकी प्राप्ति का अर्थ है उसके अस्तित्व को अपनी आत्मा के अन्दर अनुभव करना। आत्मा का अर्थ यहाँ सिर्फ स्व-आत्मा से नहीं लेना चाहिए, बल्कि पूरी मानव-जाति की आत्मा से। अब प्रश्न है कि अगर ईश्वर की अनुभूति ही जीवन का चरम

आदर्श है तो इसके साधन क्या हैं? गांधी साध्य और साधन दोनों की पवित्रता में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार अगर साध्य अर्थात् मानव-जीवन का चरम आदर्श (ईश्वर की प्राप्ति) पवित्र है तो साधन को भी उतना ही पवित्र होना चाहिए। उन्होंने आत्म-पूर्णता के लिए आत्मा की पवित्रता पर जोर दिया है और आत्मा की पवित्रता नैतिकता के अभाव में सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा है "वह व्यक्ति जो अपने जीवन को नैतिक नियम के अनुकूल बनाने के लिए तत्पर नहीं है, उसे समुचित अर्थ में मनुष्य नहीं कहा जा सकता"[१]।

महात्मा गांधी ने भारतीय दर्शन की परम्परा को अपनाते हुए व्रत के रूप में कुछ नैतिक प्रत्ययों को स्वीकार किया है जिनका पालन मनसा, वाचा, कर्मणा होना चाहिए। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर ग्यारह व्रतों को स्वीकार किया है, जिनके नाम हैं—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म-समभाव, अस्वाद और स्वदेशी। इन व्रतों का पालन करके ही मनुष्य अपनी आत्मा को पवित्र कर सकता है और चरम आदर्श तक पहुँचने में समर्थ हो सकता है। गांधी के अनुसार जीवन के गठन में व्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे इस बात से सहमत नहीं प्रतीत होते कि जीवन में नियमों का पालन तो हो लेकिन उनके विषय में कोई व्रत नहीं लिया जाय। बहुत से लोगों ने यह स्वीकार किया है कि व्रत लेना निर्बलता का सूचक है, लेकिन गांधी का विश्वास है कि व्रत लेना निर्बलता का नहीं, बल्कि बल का सूचक है। उन्होंने कहा है—"ईश्वर स्वयं निश्चय की, व्रत की, सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है। उसके नियमों से एक अणु इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देता है। तो फिर जहाँ हमारे जीवन के गठन का प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वर-दर्शन करने का प्रश्न हो, वहाँ व्रत के बिना कैसे काम चल सकता है। इसलिए व्रत की आवश्यकता के विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही नहीं चाहिए"[२]।

गांधी से पहले और उनके अतिरिक्त भी बहुत से विचारकों ने जीवन में

1. Ethical Religion (Page 36)—अनूदित

२—मंगल प्रभात—पृ० ५५-५६

ब्रह्मचर्य की महत्ता को स्वीकार किया है। सर्वप्रथम, इस शब्द का प्रयोग हमें वेद में देखने को मिलता है। सायण के अनुसार "वेद" को ब्रह्म कहते हैं। "वेदाध्ययन के लिए आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है"[१] ब्रह्मचारी की परिभाषा देते हुए वहाँ कहा गया है—"वेदात्म ब्रह्म का अध्ययन करना जिसका आचरण है उसे ब्रह्मचारी कहते हैं"[२] वेद में ब्रह्मचर्य को एक आश्रम के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों की उत्पत्ति वेद से ही हुई है[३]। उपनिषद् काल में आश्रम-व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। प्राचीन से प्राचीन धर्म-सूत्र में भी चारों आश्रमों का उल्लेख पाया जाता है। जैन दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को "पंच-महाव्रत" के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या करते हुए शीलांक ने कहा है—"जिसमें सत्य, तप, भूत-दया एवं इन्द्रिय-निरोध रूप ब्रह्म की चर्या (अनुष्ठान) हो उस मौनीन्द्र-प्रवचन-जिन-प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहते हैं"[४]। जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष का हेतु सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चरित्रात्मक मार्ग ब्रह्मचर्य है। बौद्ध दर्शन में ब्रह्मचर्य को एक "शक्ति" के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें ब्रह्मचर्य का अर्थ वह चर्या माना गया है जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो। योग-दर्शन में "चित्तवृत्ति के निरोध के लिए, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को आवश्यक माना गया है। यमों की संख्या पांच मानी गई है और ब्रह्मचर्य को एक 'यम' के रूप में स्वीकार किया गया है। इस तरह यहाँ "ब्रह्मचर्य" शब्द का प्रयोग चित-वृत्ति-निरोध के एक साधन के रूप में किया गया है।

ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ होता है ब्रह्म की चर्या, अर्थात् तत्-सम्बन्धी आचार"[५]। उस चेतन शक्ति ईश्वर की प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम उसके नियम को अपना कर स्वयं अपने में उसकी खोज करें। इस नियम को, एक शब्द में, 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है,। गांधी के अनुसार

१—अथर्व वेद ११ : ५ : १७ सायण

२—वही ११ : ५ : १ सायण

३—मनुस्मृति १२-६७

४—सूत्र कृतांग २ ५ : १ और उसकी टीका

५ मंगल प्रभात—१६

ब्रह्म प्रत्येक प्राणी में व्याप्त है, अतः ब्रह्म की खोज आत्मानुभूति से सम्भव है। जब तक हम अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त नहीं कर लेते हैं तब तक ब्रह्म की अनुभूति नहीं हो सकती है। इस तरह ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, कर्म और वाणी के द्वारा प्रत्येक देश और काल में इन्द्रियों पर नियंत्रण। उन्होंने कहा है—"ब्रह्मचर्य क्या है? वह जीवन की ऐसी चर्या है जो हमें ब्रह्म तक पहुँचाती है। इसमें जनन-क्रिया पर सम्पूर्ण संयम का समावेश हो जाता है। यह संयम मन, वचन और कर्म से होना चाहिए।"[१]।

म० गाँधी के अनुसार सिर्फ जननेन्द्रियों पर अधिकार रखने से ब्रह्मचर्य-व्रत अधूरा रह जाता है। साधारणतः लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ जननेन्द्रिय-संयम ही लेते हैं। गाँधी के अनुसार यह ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ है और इस रूप में इस शब्द की व्याख्या अधूरी है। उन्होंने कहा है कि इन्द्रिय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। सिर्फ जननेन्द्रिय का निरोध कर ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने का दावा करना गलत है। उनके शब्दों में—"निस्सन्देह, जो अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है"[२]। अन्य इन्द्रियों के नियन्त्रण के अभाव में जननेन्द्रियों पर नियन्त्रण संभव नहीं है, अतः इनके नियन्त्रण के लिए इन्द्रिय-मात्र का नियन्त्रण आवश्यक है। उन्होंने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि अगर सभी इन्द्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास डाला जाय तो जननेन्द्रियों पर नियन्त्रण आसान हो जाता है। उन्होंने कहा है—"मन, वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक संयम मात्र नहीं, बल्कि उसका अर्थ है—संपूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन, वचन, और कर्म से काम-वासना का त्याग। इस रूप में वह आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है"[३]।

म० गाँधी के अनुसार ब्रह्मचर्य एक मानसिक अवस्था है। मनुष्य की आन्तरिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति ही उसका बाह्य आचरण है, लेकिन सिर्फ

१—Self-restraint Vs Self-Indulgence (Page 165 से अनूदित)

२—मंगल प्रभात ५-१५

३. ब्रह्मचर्य (श्री) पृ० ३

वाह्य आचरण को नियंत्रित रखने से ही इस व्रत का पालन नहीं हो सकता है। विभिन्न सांसारिक आकर्षणों के बीच भी अपने को पवित्र रखने की शक्ति इस व्रत के लिए आवश्यक है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या इस तरह के ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन पूर्णता के रूप में संभव है या नही ? गांधी के अनुसार इसका पालन पूर्णता के रूप में कठिन अवश्य है, लेकिन असंभव नहीं। उन्होंने कहा है—"ऐसे ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करने वाले स्त्री या पुरुष जो हैं वैसे व्यक्ति परमेश्वर के निकट होते हैं। वे ईश्वरवत् होते हैं। इस तरह पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना संभव है"।[1] गांधी के अनुसार एक अपूर्ण मानव के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत के आदर्श को अपनाने में कठिनाई अवश्य होती है लेकिन अगर इस आदर्श को अपनाने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहा जाए तो अन्ततः इसकी प्राप्ति हो सकती है। उन्होंने कहा है—"छोटे बच्चों को जब अक्षर लिखना सिखाया जाता है तब उनके सामने अक्षर का उत्तम नमूना रखा जाता है और वे हू-बहू या उससे मिलती-जुलती नकल करने की कोशिश करते हैं। इसी प्रकार यदि हम अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श अपने-अपने सामने रखकर कार्य करें और निरन्तर उस आदर्श तक पहुँचने के उद्योग में लगे रहें, तो अंत में वहाँ तक पहुँचने में सफलता मिलेगी"।[2] गाँधीजी के अनुसार पाशविक वृत्तियों को दबाकर रखना और उनपर नियंत्रण प्राप्त करना, ये दोनों ही अलग-अलग चीजें है। एक ब्रह्मचारी का आदर्श उसको दबाकर रखना नहीं बल्कि उसको नियंत्रित करना होता है। यह ठीक है कि गाँधी पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने की बात करते हैं लेकिन टालसटॉय की तरह वे भी स्वीकार करते हैं कि पूर्ण ब्रह्मचर्य तो एक आदर्श मात्र है और सच-सच पूछा जाए तो शरीर-धारी मनुष्य वहाँ तक पहुँच नहीं सकता है; वह तो केवल उस तरफ बढ़ने का प्रयत्न मात्र कर सकता है, क्योंकि मन स्वभावतः विकारपूर्ण होता है। गाँध ने कहा है—"पूर्ण ब्रह्मचारी के लिये कुछ भी अशक्य नहीं, स्थिति है, जहाँ तक विरले ही पहुँच पाते हैं। इसे ज्यामिति सकते हैं, जिसका अस्तित्व केवल कल्पना में होता है, वह द

१. संयम बनाम भोग (पृ० ३?)

२. वही (पृ० ३१)

खींची ही नहीं जा सकती। फिर भी रेखागणित की यह एक महत्त्वपूर्ण परिभाषा है जिससे बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। इसी तरह हो सकता है कि पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल कल्पना-जगत् में ही मिल सकता हो। फिर भी अगर हम आदर्श को सदा मानस-नेत्रों के सामने न रखें तो हमारी दशा बिना पतवार की नाव जैसी हो जाएगी। ज्यों ज्यों हम इस काल्पनिक स्थिति के पास पहुँचेंगे त्यों-त्यों अधिकाधिक पूर्णता प्राप्त करते जायेंगे"।[१] इस तरह हम पाते हैं कि महात्मा गाँधी पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्राप्ति और उसका अखण्ड पालन संभव मानते हैं।

अगर सचमुच में देखा जाए तो ब्रह्मचर्य विवाह के आदर्श को बढ़ावा नहीं देता है, क्योंकि आत्मानुभूति के लिए विवाह को आवश्यक नहीं माना गया है। गाँधी के अनुसार 'जन्म की तरह विवाह भी एक प्रकार का "पतन" है'।[२] अब प्रश्न उठता है कि क्या जिस व्यक्ति ने शादी कर ली है वह इस व्रत का पालन कर सकता है या नहीं? गाँधी के अनुसार एक विवाहित व्यक्ति भी इस व्रत का पालन कर सकता है। मनुष्य में सन्तानोत्पत्ति का विचार पाया जाना स्वाभाविक है और इस दृष्टि से विवाह आवश्यक है। गाँधी के विचार में विवाह स्त्री और पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध के माध्यम से एक आध्यात्मिक सम्बन्ध है। स्त्री और पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध तभी होना चाहिए जब दोनों में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो और वह भी चार पांच वर्षों में एक बार होना चाहिए। अगर विवाहित जीवन में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध इस प्रकार से होता है तो हम कह सकते हैं कि वे ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर रहे हैं।[३] गाँधीजी के शब्दों में "यदि हमारा विवाह हो चुका है तो क्या हुआ? प्रकृति के नियम के अनुसार ब्रह्मचर्य तब तोड़ा जाए, जब पति और पत्नी दोनों ही की इच्छा सन्तान उत्पन्न करने की हो। इस विचार को ध्यान में रखकर जो लोग चार या पांच वर्षों में एक बार ब्रह्मचर्य भंग करते हैं, वे वासना के गुलाम नहीं हो जाते और न उनके वीर्य-धन के भण्डार में कुछ विशेष घाटा होता है....."।[४]

---

१. अनीति की राह पर पृ० ५०
२. Speeches (page 829 से अनूदित)
३. हरिजन (मार्च १४, १९३६ पृ० संख्या ३६ का सार)
४. संयम बनाम भोग (पृ० ४३-४४)

अब पुनः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि किस प्रकार विवाहित जीवन में इस आदर्श को अपनाया जाए ? गांधीजी ने कहा है कि पति और पत्नी को अलग-अलग रहने को आदत डालनी चाहिए। रात में उन्हें अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए और दिन के समय अच्छे काम में अपने को व्यस्त रखना चाहिए।

म० गांधी के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने के लिए सर्वप्रथम हमें जीवन में इसकी आवश्यकता का अनुभव करना चाहिए। बिना संयम के अमर जीवन की साधना सभव नही है और संयम के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। इस तरह अमरत्व की प्राप्ति ब्रह्मचर्य के द्वारा ही हो सकती है। इसके बाद हमें क्रमशः अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने की आदत डालनी चाहिए जिसमें जीभ प्रधान है। जो व्यक्ति अपनी रसना को वश में रख सकता है उसके लिए इस व्रत का पालन आसान हो जाता है। गांधीजी ने कहा है "मेरा अनुभव तो यह है कि जो व्यक्ति स्वाद को नहीं जीत सका वह विषयों को नहीं जीत सकता। स्वाद को जीतना सहज नहो है, किन्तु वासना का संयम जिह्वा के संयम के साथ बंधा है"।[1] जो बातें जिह्वा को नियत्रंण करने के लिए कही गई हैं वही बातें अन्य इन्द्रियों के नियंत्रण पर भी लागू होती है। यदि आंखें पाप की ओर बढ़ें तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए। यदि कान अपराध करें तो उनमें रुई भर लेनी चाहिए। जहां गंदी बातें हो रहीं हों या गंदे गीत गाये जा रहे हो, वहां से उठकर चल देना चाहिए।

गांधी के अनुसार तीसरी आवश्यक बात यह है कि उस व्रत के पालन के लिये अच्छे लोगों स मित्रता, अच्छे व्यक्तियों का सत्संग तथा अच्छी पुस्तकों को पढ़ने की आदत डालनी चाहिये। गांधी ने कहा है—"साथी, मित्र और पुस्तकें निर्मल विचार-धारा उत्पन्न करती और मानुषिक जीवन का सच्चा निखरा स्वरूप प्रदान करती हैं"।[2] इनके द्वारा हमें अच्छे काम करने का प्रोत्साहन मिलता है।

प्रार्थना को भी गांधी ने ब्रह्मचर्य-व्रत का एक आवश्यक साधन कहा है। जो व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रतिदिन ईश्वर की प्रार्थना करता है उसे एक न एक दिन सफलता अवश्य ही मिलती है। "वासनाओं पर विजय पाने

१. संयम बनाम भोग (पृ० १०४)
२. वही (पृ० ३४)

का सबसे बड़ा और जबर्दस्त साधन तो "राम-नाम" का जप या ऐसा ही कोई दूसरा मंत्र है। अपनी भावना के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति किसी मंत्र का जप करे"।[१]

"उपवास" भी ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करने में सहायक होता है। गांधी ने स्वीकार किया है कि इन्द्रियां बहुत ही बलवान होती हैं। अतः उन पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उपवास की आवश्यकता होती है। उपवास का संबंध मन से भी होता है। अगर कोई व्यक्ति उपवास मन से नहीं करता है तो उसे इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने में सहायता नहीं मिल सकती है।

म०गांधी के अनुसार अगर मनुष्य नैतिकता का जीवन व्यतीत करना चाहता है और इस तरह अपने जीवन में आत्म-पूर्णता को लाना चाहता है तो उसके लिए ब्रह्मचर्य-व्रत आवश्यक है। मनुष्य संसार मे रहकर सांसारिक शक्तियों के साथ शारीरिक मुकाबला करना चाहता है, जिसके लिए दो मार्ग हैं—आसुरी और दैवी। दैवी शक्ति आसुरी शक्ति पर हमेशा से विजय प्राप्त करती आई है, जो ब्रह्मचर्य से ही सभव है।

अगर हम ब्रह्मचर्य को अपने जीवन का आदर्श मान लें तो हमें अपने जीवन के पग-पग पर इसके अनेकानेक उत्कर्षों का अनुभव होगा। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य का राजपथ है। अतः स्त्री और पुरुष दोनों को ही स्वास्थ्य संचित करने के लिए ब्रह्मचर्य पालन करने की आवश्यकता है। गाँधी ने कहा है—"स्वास्थ्य अच्छा बनाए रखने के लिए अनेक आवश्यक कुंजियों की आवश्यकता है। इसकी सबसे अधिक आवश्यक और मुख्य कुंजी "ब्रह्मचर्य" है।[२]

ब्रह्मचर्य-व्रत को अपनाने से आयु और शक्ति दोनों बढ़ती है। गाँधी का ऐसा विश्वास है कि अगर मनुष्य अपनी वीर्य-शक्ति का क्षय नहीं करता है तो वह सौ साल से भी अधिक जी सकता है। योग दर्शन स्वीकार करता है कि ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित रहने वाले को वीर्य-लाभ होता है जिससे अणिमादि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। गाँधीजी ने कहा है "स्वास्थ्य और आयु, दोनों ब्रह्मचर्य के महत्त्वपूर्ण फल हैं"[३]।

---

१ वही (पृ० ३४)
२—Key to Health (Page 46 से अनूदित)
३—The Diary of Mahadeva Desai (Page 119 से अनूदित)

ब्रह्मचर्य संतति-निग्रह का भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। आज के युग में जहाँ जनसंख्या की अतिवृद्धि एक समस्या बन गई है, लोगों ने इसे रोकने के लिए कृत्रिम उपायों को खोज निकाला है। लेकिन इन उपायों के प्रयोग से शरीर पर बहुत ही बुरा असर पड़ता है। इससे नपुंसकता और मानसिक निर्बलता बढ़ती है। नैतिक दृष्टि से भी यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसके प्रयोग से स्त्री और पुरुष पाप के पथ पर चलने में उत्साहित होते हैं। अत: गांधीजी के अनुसार संतति-निग्रह के लिए कृत्रिम साधनों का उपयोग न करके ब्रह्मचर्य का उपयोग करना सभी दृष्टियों से हितकर हैं। उन्होंने कहा है—"संतति-निग्रह की आवश्यकता के संबंध में दो मत हो ही नहीं सकते। उसका तो युगानुयुग से एक ही उपाय चलता आया है और वह उपाय है आत्म-संयम या ब्रह्मचर्य"।[1]

जीवन में ब्रह्मचर्य-व्रत की पूर्ण आवश्यकता को स्वीकार करते हुए गाँधी ने १६०६ ई० में इस व्रत को धारण किया। वे चाहते थे कि मन, कर्म और वचन से इसका पालन करके उस अवस्था को प्राप्त किया जाय जिसे यौन-प्रवृत्ति-हीनता (Sexlessness) की अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये उन्होंने जिस साधन का प्रयोग किया उसकी तीव्र आलोचनाएँ की गईं। उनके विरुद्ध अनेक आक्षेप उठाये गये जिनमें "नोआखाली-यज्ञ" की बात उल्लेखनीय है। गांधीजी की एक पोती थी जिसका नाम मनु गाँधी था। बचपन में ही उसकी माँ का देहान्त हो जाने के कारण गांधी ने उसे माँ का प्यार दिया।[2] १६ वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी मनु गाँधी में यौन-संबंधी प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता था जो इस अवस्था को लड़कियों के लिए अस्वाभाविक है। गांधीजी इस बात की परीक्षा लेना चाहते थे कि क्या सचमुच उसमें यह प्रवृत्ति नहीं है या वह उनसे इस बात को छिपाती है। इसके लिये उन्होंने मनु के साथ वैसा व्यवहार करना आरम्भ किया जो एक माँ अपनी बेटी के साथ करती है। यहाँ तक कि रात में वे दोनों एक ही बिस्तर पर सोया करते थे। इसके पीछे गांधीजी के दो उद्देश्य थे। पहला यह

१—संयम बनाम भोग (पृ० ५३)

२—Mahatma Gandhi, The Last Phase. by Pyarelal Vol-I.(page 575)

कि वे मनु की सत्यवादिता की परीक्षा लेना चाहते थे और दूसरा यह देखना था कि वे स्वयं यौन-प्रवृत्ति-हीनता की अवस्था को प्राप्त कर सके हैं या नहीं ? गांधीजी के इस व्यवहार की तीव्र आलोचनाएँ की गईं और उनके आश्रम से उनके बहुत सहकर्मी क्रमशः अलग होने लगे।

लेकिन प्रश्न है कि क्या सचमुच म०गांधी के इस व्यवहार की आलोचना उचित है ? अगर वास्तव में देखा जाए तो इन आलोचनाओं के पीछे गांधीजी के आदर्श से अनभिज्ञता की झलक मिलती है। जिस आदर्श को ध्यान में रखकर गांधीजी ने ऐसा व्यवहार किया उसपर उनकी आलोचना करना समुचित नहीं है। वास्तव में गांधीजी ने प्रयोग के रूप में ऐसा काम नहीं किया, बल्कि ऐसा करना उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा जिसे वे किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होने अपने को "अर्धनारी" कहकर पुकारा था और यही कारण था कि स्त्रियाँ उनके समक्ष वैसी बातें करने में भी हिचकती नहीं थीं जो एक पुरुष के सामने नहीं की जा सकती हैं।[२] युवा स्त्रियों के कंधे पर हाथ रखकर चलना, उनके द्वारा खुले बदन मे तेल मालिश करवाना, आश्रम में पुरुष और स्त्रियों को एक साथ रखना—इन सभी के पीछे गांधी का एक महान् उद्देश्य था। उनका ऐसा विश्वास था कि पूर्ण ब्रह्मचारी होकर ही कोई व्यक्ति स्त्रियों की सेवा कर सकता है।[३] वे वास्तव में प्रमाणित करना चाहते थे कि उनमें यौन-संबंधी किसी प्रकार की प्रवृत्ति है ही नहीं। गांधी के इस आदर्श को ध्यान में रखकर अगर उनके व्यवहार पर विचार किया जाए तो उनके विरुद्ध जितने भी आक्षेप किये गये हैं उन सबों का निराकरण हो जाता है। एक प्राचीन भारतीय कथा है कि व्यास के पुत्र शुकदेव नंगे होकर घूमा करते थे। उनके समक्ष स्त्रियाँ जाने मे हिचकती नहीं थी जब कि उनके पिता व्यास (जो काफी वृद्ध हो चुके थे) के समक्ष स्त्रियों को जाने में संकोच होता था। इसका कारण यह था कि शुकदेव यौन-प्रवृत्ति-हीनता की अवस्था को प्राप्त कर चुके थे, लेकिन व्यास उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर

१—Ibid (page 577).
२—Gandhi's view of life By C. Shukla. (page 199)
३—Mahatma Gandhi, The Last Phase by Pyarelal. (vol-1, 578)

सके थे। इस तरह हम कह सकते हैं कि स्त्रियों के साथ गांधीजी के किसी भी व्यवहार की आलोचना करना समुचित नहीं हैं, क्योंकि गाँधीजी यौन-प्रवृत्ति-हीनता की अवस्था प्राप्त करना चाहते थे और इसी आदर्श से संचालित उनका व्यवहार स्त्रियों के साथ हुआ करता था।

बहुत से लोगों ने ब्रह्मचर्य को इस आधार पर अव्यावहारिक कहा है कि सीमित मानव के लिए इसका पालन पूर्णता में संभव नहीं है। गाँधी इस मत से सहमत प्रतीत नहीं होते। उन्होंने कहा है यह ठीक है कि मनुष्य स्वभावतः अपूर्ण है लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह अपने सामने किसी उच्च आदर्श को न रखे। ऐसी बात नहीं है कि आदर्श के ऊँचे, पूर्ण और दुरूह होने के कारण हमें अपने मार्ग में आगे बढ़ने में कोई सहायता नहीं मिलती है। इस संबंध में टॉलसटाय का कथन उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा है—"इस बात को कभी न भूल कि तू न तो कभी पूर्णतः ब्रह्मचारी है और न रह सकता है। हां, तू इसके नजदीक जरूर पहुँच सकता है और इस प्रयत्न में तुझे कभी निराशा न होनी चाहिए"[१]।

ब्रह्मचर्य के विषय में एक दूसरी शंका यह उठायी गई है कि क्या इससे मानव-जाति नाश को प्राप्त न हो जायगी? गांधी ने कहा है कि वास्तव में इस प्रश्न के पीछे हमारी कमजोरी छिपी हुई है। जो व्यक्ति इस व्रत का पालन नहीं करना चाहते वे इसके लिये सैकड़ों बहाने ढूँढ़ते हैं। गांधी ने कहा है कि "अगर सभी व्यक्ति ब्रह्मचारी बन जायँ तो इससे संसार मिटेगा नहीं, बल्कि ऐसी आदर्श स्थिति हो जाए तो सब मोक्षेच्छुओं का ही समाज होकर रहे—मनुष्य अति-मानव होकर रहे"[२]।

★

१—स्त्री और पुरुष (पृ० ४६)
२—ब्रह्मचर्य श्री (पृ० ८२)

गाँधी-दर्शन में ब्रह्मचर्य का आदर्श

प्रो० डा० दशरथ सिंह

हिन्दू नीति-शास्त्र में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग विशेषण एवं विशेष्य, दोनों रूपों में हुआ है। विशेषण-रूप में यह शब्द विशेषकर मानव जीवन के प्रथम आश्रम के (ब्रह्मचर्याश्रम) का बोधक है। विशेष्य के रूप में यह एक विशेष प्रकार की जीवन-पद्धति का सूचक है, जिसका संबंध जीवन के चरम लक्ष्य, अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति से है। गाँधी-दर्शन में इन दोनों अर्थों में 'ब्रह्मचर्य' शब्द के प्रयोग हुए हैं। फिर भी दूसरे अर्थ में और विशद रूप से विचार हुआ है। गांधी ने ब्रह्मचर्य का मुख्य प्रयोग ब्रह्म, ईश्वर या आत्मा की खोज करनेवाली जीवन-पद्धति के रूप में किया है। इस व्यापक प्रयोग के अन्तर्गत अन्य कई छोटे-छोटे प्रयोग भी हुए हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा अभिप्राय इन सभी अर्थों पर विचार कर अंत में उनकी समीक्षा प्रस्तुत करना है।

म० गांधी ने ब्रह्मचर्य का सामान्य प्रयोग ईश्वर की खोज करनेवाली जीवन-पद्धति के रूप में किया है।[1] उनके दर्शन में ब्रह्म, ईश्वर, सत्य एवं आत्मा, सभी समानार्थक शब्द हैं। अतः ब्रह्मचर्य का रूपान्तर ब्रह्मानुभूति, ईश्वर-साक्षात्कार, सत्यज्ञान एवं आत्मानुभव की जीवन-पद्धति में आसानी से किया जा सकता है। ब्रह्म, ईश्वर, एवं सत्य गाँधी के अनुसार केवल अमूर्त्त पद नहीं है, वल्कि वे सृष्टि में व्याप्त हैं। सृष्टि में व्याप्त होने के कारण वे जीवात्मा में भी व्याप्त हैं।[2] अतः ब्रह्मचर्य की जीवन-पद्धति में पहले अपने अन्तःकरण की आत्मा का अनुभव होता है, फिर इसके आधार पर व्यापक तत्व ईश्वर, सत्य एवं ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

गांधी के अनुसार ईश्वर एक प्रकार की जीवनी-शक्ति है। इस शक्ति की खोज इसके नियम जानने पर होती है, जैसे विद्युत्शक्ति की खोज वैद्युतिक

1.—The Selected Works of Mahatma Gandhi Vol I

2.—M. K. Gandhi, Hindu Dharma.

नियम जानने पर होती है। ब्रह्मचर्य ईश्वरीय नियम का पर्यायवाची शब्द है[१]। इस प्रयोग के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य वह नियम अथवा प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अंतर्गत व्यापक जीवनी-शक्ति की खोज करता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य चाहे ईश्वर की खोज की पद्धति हो अथवा ईश्वरीय नियम का सूचक हो, दोनों अर्थों में इसका उद्देश्य तत्वशास्त्रीय सत्ता की खोज है। अतः हम इस प्रयोग को तत्वशास्त्रीय प्रयोग की संज्ञा दे सकते हैं।

परन्तु गांधी-दर्शन में ब्रह्मचर्य का प्रयोग एक विशेष अर्थ में भी हुआ है। इस अर्थ में यह शब्द इन्द्रिय-नियमन एवं आत्म-संयम का सूचक है।[२] इन्द्रिय-नियमन का अर्थ यहाँ केवल जननेन्द्रिय का नियमन ही नहीं, सभी इन्द्रियों का नियमन है।[३] वह एक साथ कई साध्यों का साधन बन जाता है।

ब्रह्मचर्य से (क) ज्ञान में स्थितप्रज्ञता आती है (ख) आत्मशक्ति का साक्षात्कार होता है (ग) जीवन में तेजस्विता आती है (घ) संकल्प-शक्ति का विकास होता है (ङ) विश्व-प्रेम का अनुभव मिलता है।

इस प्रकार गांधी-दर्शन में ब्रह्मचर्य ज्ञानात्मक, तात्विक, जैविक, नैतिक, एवं सामाजिक, सभी प्रकार के मूल्यों की सिद्धि का साधन बन जाता है। इसका साक्षात् संबन्ध सदाचार से होने के कारण इसे ब्रह्मचर्य का नैतिक प्रयोग कहा जा सकता है।

गांधी ने ब्रह्मचर्य का प्रयोग सार्वभौम प्रेम (Universel Love) के अर्थ में भी किया है।[४] उन्होंने स्वयं ब्रह्मचर्य की साधना प्रेम से प्रेरित होकर की थी। समाज या विश्वप्रेम की व्यापक स्थिति को प्राप्त करने के लिए उन्होंने पारिवारिक प्रेम की सीमित परिधि से बाहर निकलना अनिवार्य माना है[५]। इसके लिए या तो आजन्म अविवाहित रहकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत

१.—उपरिवत

२—The Selected works of Mahatma Gandhi

३—गांधी मनुस्मृति के इस बात से सहमत है कि एक इन्द्रिय जय का कोई अर्थ नहीं होता। मनुस्मृति २।९९ देखें

४—The Collected Works of Mahatma Gandhi

५—उपरिवत,

करना आवश्यक है अथवा पारिवारिक जीवन के प्रेम को निःस्वार्थता की अग्नि में भून देना है[१]। ऐसी स्थिति में ही कोई व्यक्ति समाज-सेवा अथवा समाज-प्रेम के योग्य अपने को बना सकता है। यदि कोई दाम्पत्य जीवन व्यतीत करता है तो उसे आपस में भाई-बहन एवं पिता-पुत्री के भाव से जीना होगा, केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से ही सम्भोग की क्रिया करनी होगी और संतान भी कम पैदा करने होंगे। जबतक वह इन्द्रिय-परता का शिकार रहेगा, व्यापक प्रेम की झलक से वंचित रहेगा। ब्रह्मचर्य के इस प्रयोग को हम समाजशास्त्रीय प्रयोग की संज्ञा दे सकते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं समाज शास्त्री यह जानने लगे हैं कि सफल दाम्पत्य जीवन के लिए यौन व्यापार की निपुणता आवश्यक है[२]। गाँधी ने वैवाहिक जीवन का आधार यौन नहीं, बल्कि निर्दोष प्रेम तथा सहयोग की भावना को माना है।[३] अतः गाँधी का विचार आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्र के आधार पर खंडित होता-सा प्रतीत होता है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह सिद्ध होता है कि जहाँ कहीं भी वासना या स्वार्थ, संबंध का आधार होता है वह क्षणिक ही होता है। व्यापक एवं स्थायी प्रेम की भूमिका पर पहुँचने के लिये कुछ न कुछ त्याग करना ही पड़ता है। वस्तुत; दाम्पत्य जीवन का प्रेम हो या सामाजिक जीवन का प्रेम हो, वह निर्भर करता है व्यक्ति के आदर्श पर। अमेरिका जैसे देशों में वासना ही सफल दाम्पत्य जीवन का आधार बन सकती है : किन्तु किसी भी उदात्त संस्कृति का इतिहास इस मान्यता को खंडित करता है। तथाकथित विकसित समाज में टूटता पारिवारिक जीवन इस बात का द्योतक है।

अतः म० गाँधी का दृष्टिकोण कठोर भले प्रतीत हो, लेकिन सामाजिक विकास और व्यक्तिगत चरित्र के उत्कर्ष का कोई मार्ग बहुत सरल नहीं होता।

१—उपरिवत्,

२—Role of Sex in Marriage, Gandhijee Vs Modern Psychologists—Times Weekly, Oct. 3 1971.

३—उपरिवत् (पृष्ठ ६)

अब तक ब्रह्मचर्य के जिन प्रयोग-सदंर्भों की चर्चा हुई है, वे ब्रह्मचर्य के पूर्ण अर्थ को प्रकट करते है। परन्तु गाँधीजी ने सीमित अर्थ में भी ब्रह्मचर्य का प्रयोग किया है। सीमित अर्थ में ब्रह्मचर्य का प्रयोग यौन भावना एवं संबंध क्रियाओं के परिष्कार एवं उदासीकरण के अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में ब्रह्मचर्य मनुष्य के चरित्र की वह अवस्था है जिसमें विषमलिंगियों के प्रति आकर्षण के बदले तटस्थता [१] की भावना आती है तथा उससे निर्दोष प्रेम की धारा प्रवाहित होती है।

म० गांधी के अनुसार ब्रह्मचारी स्त्री और पुरुष के बीच मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कोई भेद न खड़ा कर उनसे सहज भाव से मिलता है। उसकी कामजनित वासनाएँ समाप्त हो चुकी होती हैं। ऐसी व्यवस्था में वह स्त्री या पुरुष के प्रति माता, बहन, पिता एवं भाई के समान व्यवहार करने लगता है।[3]

यौन भावना एवं सम्बद्ध क्रियाओं के परिष्कार के लिये, ये दो विचार आये हैं। पहला अविवाहित के लिए एवं दूसरा गृहस्थ के लिये है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में शुक्र-संचय की स्थिरता एवं वासनात्मक भावनाओं का त्याग ब्रह्मचारी का मुख्य रूप है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्मचर्य और नपुंसकत्व, ये दोनों गाँधी-दर्शन में समानार्थक हैं। गाँधीजी ने इन दोनों पदों के बीच भेद किया है। नपुंसकत्व वह अवस्था है जिसमें यौन इच्छाएँ एवं शुक्र-स्खलन दोनों का भाव होता है।[3] केवल उत्तेजना का अभाव रहता है। ब्रह्मचर्य में उत्तेजना के अभाव के साथ-साथ यौन इच्छाओं का भी अभाव रहता है। जहाँ तक शुक्र-स्खलन का प्रश्न है, वह बाह्य प्रदेशों में न होकर संपूर्ण शरीर में जीवनी शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है [४]। नपुंसकत्व जहाँ एक प्रकार का शारीरिक

१—The mind of Mahatma Gandhi, edited by R. K. Prabhu and U. R. Rao.

२—The Selected Works of Mahatma Gandhi, Navajiwan, (vol. v)

३—The Collected Works of Mahatma Gandhi (vol iv)

४—उपरिवत (पृ०, ४३२)

दोष है, वहाँ ब्रह्मचर्य अखण्ड तेज का सुन्दर परिणाम है। ब्रह्मचर्य में शुक्र का कुंठन न होकर नियमन होता है।

एक प्रयोग के अनुसार ब्रह्मचर्य हमारे मन की विशेष अवस्था है।[१] यौन व्यापारों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। उनकी सत्ता हमारी इच्छाओं पर निर्भर है। ब्रह्मचर्य की अवस्था में हमारा मन इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि उनमें वासनाएँ आती ही नहीं हैं। इसीलिए बाहर से यौन व्यापारों का दमन करने पर भी यदि मन में वासनाओं का स्मरण होता है तो उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहा जाता है।[२] इस प्रकार ब्रह्मचर्य में काम-जनित वासनाओं का मन से सदा के लिये उन्मूलन हो जाता है, दमन नहीं। दमन में इच्छाएँ जीवित तथा आन्तरिक रूप से सक्रिय रहती हैं, परन्तु उन्मूलन में वासनाएँ मन से सदा के लिये तिरोहित हो जाती हैं।[3] दमन के परित्याग-स्वरूप अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। परन्तु वासनाओं के उन्मूलन से मन स्वच्छ और निर्मल हो जाता है और वासना-जनित रोग के समाप्त होते ही आत्म-शक्ति का उदय होता है। वासनाएँ हमें व्यापक ज्ञान, व्यापक शक्ति एवं व्यापक ध्येय से सदैव वंचित रखती हैं। ब्रह्मचर्य मन की वह निर्मल अवस्था है जिसमें सभी प्रकार की वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा आत्मज्ञान एवं आत्मशक्ति का अनुभव होने लगता है। मन की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये जिज्ञासा, नियंत्रण, सत्संग, एवं ईश्वर-प्रार्थना, सहायक होते हैं[४]। इसे हम ब्रह्मचर्य का मनोवैज्ञानिक प्रयोग कह सकते हैं।

गाँधी के अनुसार जबतक ब्रह्मचर्य के इस रूप को प्राप्त नहीं किया जायगा, तब तक ब्रह्मचर्य की पूर्णता का फल हम नहीं ले सकते[५]। केवल इस सीमित अर्थ में ब्रह्मचर्य का पालन करने से संपूर्ण ब्रह्मचर्य के फल को नहीं प्राप्त कर सकते। व्यापक अर्थ में ब्रह्मचर्य मन, वचन और कर्म, तीनों की अखंड अवस्था है जिसमें ईश्वर का साक्षात्कार होता है।

१—The Mind of M. Gandhi.

२—The Collected Works of M. Gandhi (vol. iv)

३—उपरिवत्, पृ० ४३१

४—उपरिवत्, पृ० ४३५-४३६

५—उपरिवत्, पृ० ४३३

अब तक ब्रह्मचर्य के जिन प्रयोग-सदंर्भों की चर्चा हुई है, वे ब्रह्मचर्य के पूर्ण अर्थ को प्रकट करते हैं। परन्तु गाँधीजी ने सीमित अर्थ में भी ब्रह्मचर्य का प्रयोग किया है। सीमित अर्थ में ब्रह्मचर्य का प्रयोग यौन भावना एवं संबंध क्रियाओं के परिष्कार एवं उदासीकरण के अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में ब्रह्मचर्य मनुष्य के चरित्र की वह अवस्था है जिसमें विषमलिंगियों के प्रति आकर्षण के बदले तटस्थता[१] की भावना आती है तथा उससे निर्दोष प्रेम की धारा प्रवाहित होती है।

म० गांधी के अनुसार ब्रह्मचारी स्त्री और पुरुष के बीच मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कोई भेद न खड़ा कर उनसे सहज भाव से मिलता है। उसकी कामजनित वासनाएँ समाप्त हो चुकी होती हैं। ऐसी व्यवस्था में वह स्त्री या पुरुष के प्रति माता, बहन, पिता एवं भाई के समान व्यवहार करने लगता है।[3]

यौन भावना एवं सम्बद्ध क्रियाओं के परिष्कार के लिये, ये दो विचार आये हैं। पहला अविवाहित के लिए एवं दूसरा गृहस्थ के लिये है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में शुक्र-संचय की स्थिरता एवं वासनात्मक भावनाओं का त्याग ब्रह्मचारी का मुख्य रूप है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्मचर्य और नपुंसकत्व, ये दोनों गाँधी-दर्शन में समानार्थक हैं। गाँधीजी ने इन दोनों पदों के बीच भेद किया है। नपुंसकत्व वह अवस्था है जिसमें यौन इच्छाएँ एवं शुक्र-स्खलन दोनों का भाव होता है।[3] केवल उत्तेजना का अभाव रहता है। ब्रह्मचर्य में उत्तेजना के अभाव के साथ-साथ यौन इच्छाओं का भी अभाव रहता है। जहाँ तक शुक्र-स्खलन का प्रश्न है, वह वाह्य प्रदेशों में न होकर संपूर्ण शरीर में जीवनी शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है[४]। नपुंसकत्व जहाँ एक प्रकार का शारीरिक

१—The mind of Mahatma Gandhi, edited by R. K. Prabhu and U. R. Rao.

२—The Selected Works of Mahatma Gandhi, Navajiwan, (vol. v)

३—The Collected Works of Mahatma Gandhi (vol iv)

४—उपरिवत् (पृ०, ४३२)

दोष है, वहाँ ब्रह्मचर्य अखण्ड तेज का सुन्दर परिणाम है। ब्रह्मचर्य में शुक्र का कुंठन न होकर नियमन होता है।

एक प्रयोग के अनुसार ब्रह्मचर्य हमारे मन की विशेष अवस्था है।[१] यौन व्यापारों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। उनकी सत्ता हमारी इच्छाओं पर निर्भर है। ब्रह्मचर्य की अवस्था में हमारा मन इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि उनमें वासनाएँ आती ही नहीं हैं। इसीलिए बाहर से यौन व्यापारों का दमन करने पर भी यदि मन में वासनाओं का स्मरण होता है तो उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहा जाता है।[२] इस प्रकार ब्रह्मचर्य में काम-जनित वासनाओं का मन से सदा के लिये उन्मूलन हो जाता है, दमन नहीं। दमन में इच्छाएँ जीवित तथा आन्तरिक रूप से सक्रिय रहती हैं, परन्तु उन्मूलन में वासनाएँ मन से सदा के लिये तिरोहित हो जाती हैं।[3] दमन के परित्याग-स्वरूप अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। परन्तु वासनाओं के उन्मूलन से मन स्वच्छ और निर्मल हो जाता है और वासना-जनित रोग के समाप्त होते ही आत्म-शक्ति का उदय होता है। वासनाएँ हमें व्यापक ज्ञान, व्यापक शक्ति एवं व्यापक ध्येय से सदैव वंचित रखती हैं। ब्रह्मचर्य मन की वह निर्मल अवस्था है जिसमें सभी प्रकार की वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा आत्मज्ञान एवं आत्मशक्ति का अनुभव होने लगता है। मन की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये जिज्ञासा, नियंत्रण, सत्संग, एवं ईश्वर-प्रार्थना, सहायक होते हैं[४]। इसे हम ब्रह्मचर्य का मनोवैज्ञानिक प्रयोग कह सकते हैं।

गाँधी के अनुसार जबतक ब्रह्मचर्य के इस रूप को प्राप्त नहीं किया जायगा, तब तक ब्रह्मचर्य की पूर्णता का फल हम नहीं ले सकते[५]। केवल इस सीमित अर्थ में ब्रह्मचर्य का पालन करने से संपूर्ण ब्रह्मचर्य के फल को नहीं प्राप्त कर सकते। व्यापक अर्थ में ब्रह्मचर्य मन, वचन और कर्म, तीनों की अखंड अवस्था है जिसमें ईश्वर का साक्षात्कार होता है।

१—The Mind of M. Gandhi.
२—The Collected Works of M. Gandhi (vol. iv)
३—उपरिवत्, पृ० ४३१
४—उपरिवत्, पृ० ४३५-४३६
५—उपरिवत्, पृ० ४३३

ऊपर हमने ब्रह्मचर्य के तत्वशास्त्रीय, नैतिक, समाज-शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमियों को अलग-अलग देखा। परन्तु ऐसा हमने विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से ही किया है। वस्तुत: गांधी-दर्शन में इन सभी प्रकार के प्रयोगों के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची गयी है। इसमें तो सभी अर्थों का अंतर्ग्रन्थन है। इसीलिए ब्रह्मचर्य, मनसा वाचा एवं कर्मणा, तीनों की स्वयं-स्थिति का ही सूचक है। फिर साधन-साध्य की एकता के तर्कशास्त्र के आधार पर सभी प्रयोगों का एक साथ मिलाना भी गांधीवादी नीति के प्रतिकूल नहीं है। परन्तु गांधी ने ब्रह्मचर्य के उक्त भिन्न-भिन्न अर्थों को किसी सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत नहीं रखा है। इसलिए उनके विचार में अर्थ की अस्पष्टता रह जाती है। इस कठिनाई को विनोबा भावे ने दूर किया है। विनोबा ने गीता के मनोविज्ञान के आधार पर यह बतलाया है कि आत्म-संयम से इन्द्रियां मन, मन बुद्धि, एवं बुद्धि आत्मा के नियंत्रण में काम करने लगती हैं।[1] इस प्रक्रिया में मन की वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं, प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, आत्म-चेतना के व्यापक प्रकाश का अनुभव होने लगता है और समस्त प्राणियों से आत्मवत् प्रेम होने लगता है। यही पूर्ण आध्यात्मिकता की स्थिति है। यहां पर ब्रह्मचर्य के सभी पक्ष सुनियोजित रूप से संगठित हो जाते हैं।[2]

म० गांधी की ब्रह्मचर्य-धारणा में भावात्मक पक्ष खूब स्पष्ट नहीं है। निषेधात्मक पक्ष पर ही विशेष रूप से विचार हुआ है। सार्वभौम प्रेम तथा ईश्वर-साक्षात्कार, दो भावात्मक पक्ष हैं, परन्तु वे अर्थ के दृष्टिकोण से अस्पष्ट हैं। यदि ब्रह्मचर्य का अर्थ सार्वभौम प्रेम लेते हैं तो प्रश्न उठता है कि यह अहिंसा के किस अर्थ से समान तथा भिन्न है? क्योंकि अहिंसा का भी भावात्मक अर्थ प्रेम ही है। यदि अहिंसा और ब्रह्मचर्य एक ही अर्थ में प्रेम को व्यक्त करते हैं तो फिर गांधी-दर्शन में ब्रह्मचर्य का अलग क्या अर्थ रह जाता है? इसी प्रकार ईश्वर-साक्षात्कार भी अनिश्चित एवं अस्पष्ट धारणा है। गांधीजी के अनुसार ईश्वर कभी सत्य, कभी प्रेम, कभी निर्भयता, कभी प्राणियों के समूह, कभी नैतिक नियम के अर्थों में प्रयुक्त होता है। ऐसी स्थिति में

१—विनोबा का स्थितप्रज्ञ दर्शन देखें।

२—विनोबा, कार्यकर्त्ता वर्ग, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९५५.

नैतिक कर्त्ता को ब्रह्मचर्य के सार्वभौम प्रेम एवं ईश्वर-साक्षात्कार से कुछ भी दिशा-निर्देश नहीं हो पाता है।

विनोबा ने गांधी की इस कमी को दूर किया है। उन्होंने ब्रह्मचर्य के भावात्मक एवं निषेधात्मक, दोनों पक्षों पर संतुलित ढंग से विचार किया है। उन्होंने बतलाया है कि ब्रह्मचर्य के भावात्मक पक्ष में व्यापक ध्येय, जैसे समाज-सेवा, पितृ-सेवा, तथा विज्ञान-सेवा इत्यादि के ध्येय होते हैं। फिर इन व्यापक ध्येयों को ईश्वरार्पण का रूप दे दिया जाता है। इतना ही नहीं, उन्होंने जीवन के भिन्न-भिन्न आश्रमों में ब्रह्मचर्य के भिन्न-भिन्न रूपों पर भी प्रकाश डाला है। जैसे ब्रह्मचर्यावस्था में गुरुनिष्ठा, गार्हस्थ्य जीवन में पति-पत्नी-प्रेम, वानप्रस्थ में समाज-निष्ठा तथा संन्यास में अध्यात्मनिष्ठा, ये 'ब्रह्मचर्य के भिन्न-भिन्न सोपान हैं।'[1] विनोबा द्वारा ब्रह्मचर्य के इस भावात्मक पक्ष पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालने के फल-स्वरूप साधक का भली-भांति दिशा-निर्देश हो जाता है।

ब्रह्मचर्य-धारणा के सम्बन्ध में एक प्रश्न उसके प्रमाणीकरण का उठता है। जैसा हम पहले देख आये है, पूर्ण ब्रह्मचर्य की धारणा में मनसा वाचा कर्मणा की एकता रहती है, विषमलिंगियों के प्रति तटस्थता का भाव रहता है, इत्यादि। प्रश्न है क्या समाज में ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें देखकर हम ब्रह्मचर्य की पूर्ण धारणा का प्रमाणीकरण कर सकें?

शायद सत्य और अहिंसा की भांति संपूर्ण ब्रह्मचर्य को भी म० गांधी अप्राप्य ही मानेंगे। इस दृष्टिकोण से ब्रह्मचर्य-धारणा का साक्षात् प्रमाणीकरण नहीं हो सकता। परन्तु सीमित अर्थ में ब्रह्मचर्य की धारणा का प्रमाणीकरण वैज्ञानिक ढंग से हो सकता है। प्रथमतः ब्रह्मचारी के व्यवहारों एवं शक्तियों का बाह्य निरीक्षण आसानी से कर सकते हैं। फिर इसकी पुष्टि के लिए सीमित क्षेत्रों में ही सही, निरीक्षक को स्वयं आत्म-संयम कर उसके परिणामों का अंत निरीक्षण करना पड़ेगा। इस आधार पर पूर्ण ब्रह्मचर्य की धारणा का असाक्षात् प्रमाणीकरण कर सकते हैं।

यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य संभव नहीं हैं तो हम क्यों नहीं इस प्रत्यय को काल्पनिक मान लें? परन्तु गांधी-दर्शन में यह कल्पना-लोक का प्रत्यय नहीं है। यह

१—उपनिषत्।' (पृ० ३२-३४)

एक विकासशील प्रत्यय हैं जो किसी भी नैतिक प्रत्यय के लिए स्वाभाविक है। मानव के आचरणों की पूर्णता नहीं, विकास ही ज्यादा बोधगम्य है। इसीलिये ब्रह्मचर्य का सार बुरी वासनाओं के मन, वचन तथा कर्म में न आने में नहीं है, इसका सार उन कुप्रवृत्तियों से संघर्ष कर सत्प्रवृतियों को विजयी बनाने में है।

अतः म० गांधी के ब्रह्मचर्य के आदर्श के भावात्मक और व्यावहारिक पक्षों को स्पष्ट समझ कर ही दैनिक जीवन में उसका प्रयोग करना सफल हो सकता है।

*

एक विकासशील प्रत्यय हैं जो किसी भी नैतिक प्रत्यय के लिए स्वाभाविक है। मानव के आचरणों की पूर्णता नहीं, विकास ही ज्यादा बोधगम्य है। इसीलिये ब्रह्मचर्य का सार बुरी वासनाओं के मन, वचन तथा कर्म में न आने में नहीं है, इसका सार उन कुप्रवृत्तियों से संघर्ष कर सत्प्रवृत्तियों को विजयी बनाने में है।

अतः म० गांधी के ब्रह्मचर्य के आदर्श के भावात्मक और व्यावहारिक पक्षों को स्पष्ट समझ कर ही दैनिक जीवन में उसका प्रयोग करना सफल हो सकता है।

★

लेखक-परिचय

(अकारादि क्रम से)

---

१. डा० अशोक कुमार वर्मा—एम० ए० दर्शन, (पटना, १९४७) डी० लिट्०(१९७३) रीडर, स्नातकोत्तर विभाग, पटना विश्वविद्यालय। भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन-विभाग, बी० एन० कॉलेज, पटना। जन्म, कतरासगढ़ (धनबाद), २७ सितम्बर १९२४। कृतियाँ–सरल निगमन तर्कशास्त्र, सरल आगमनशास्त्र, भारतीय तर्कशास्त्र, सरल सामान्य दर्शन, प्रारम्भिक समाज दर्शन, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, शोध प्रन्बध –सर्वोदय दर्शन। मूर के Principia Ethica का हिन्दी रूपान्तर—नीति शास्त्र मीमांसा (बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी से प्रकाश्य)। प्रस्तूयमान—गाँधी दर्शन कोश।

२. पं० आद्याचरण झा—व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, बी० ए० विशारद, साहित्यरत्न, सहायक निदेशक, संकृत शिक्षा, बिहार सरकार, पटना। (भूतपूर्व व्याकरण विभागाध्यक्ष, संस्कृत उच्च विद्यालय, पटना)। जन्म—मँगरौनी (मधुबनी) जुलाई १९२०। कृतियाँ—संस्कृत संजीवनम्, संस्कृत सम्मेलनम्, संस्कृत प्रभा, सूर्योदय प्रभृति, संस्कृत पत्रिकाओं में शोध-निबंध। हिन्दी और मैथिली पत्रिकाओं में विविध-विषयक लेख। कलकत्ता, बंबई, बंगलोर, दिल्ली, उज्जैन आदि में संयोजित अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलनों में प्रतिनिधि के रूप में भाषण, एवं निबन्ध-पाठ। प्रस्तूयमान कृति—शाब्दबोध मीमांसा।

३. श्रीमती डा० इंदिराशरण—एम० ए०, दर्शन (पटना, १९६३) पी० एच० डी० (१९६८)। प्राध्यापिका, दर्शन विभाग, मगध महिला कॉलेज पटना। जन्म—लहेरियासराय (दरभंगा), १७ अगस्त १९४१। पिता स्व० आचार्य रामलोचन शरण (संस्थापक, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय और पटना)। शोध प्रबन्ध—भागवत पुराण में भक्तिमार्ग। विशेष रुचि— वैष्णव दर्शन, संत-साहित्य, धार्मिक ग्रंथ।

४. सुश्री डा० उमा गुप्ता एम० ए०, (दर्शन, पटना १६४७) पी०-एच० डी० (१६६७)। प्राध्यापिका, दर्शन विभाग, पटना विश्वविद्यालय। जन्म, भागलपुर, १६२६। पिता - डा० प्रियबन्धु गुप्त, (भूतपूर्व प्राचार्य, टी० एन० बी० कॉलेज, भागलपुर)। शोध-प्रबन्ध—वेद की भौतिकतावादी विचारधारा। अन्यान्य कृतियाँ—इंडियन फिलोसफिकल कांग्रेस तथा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् में पठित कतिपय निबन्ध। बिहार दर्शन परिषद् (भागलपुर १६७३) में धर्म-दर्शन शाखा की अध्यक्षा। विशेष रुचि—रवीन्द्र साहित्य, ललित कला, सांस्कृतिक आयोजन।

५. प्रि० कार्यानन्द शर्मा—एम० ए० दर्शन (पटना, १६६१), प्राचार्य जंगबहादुर सिंह घनौर महाविद्यालय, कटरा (मुजफ्फरपुर)। भूतपूर्व प्राध्यापक, भगवानपुर कॉलेज, भगवानपुर। जन्म—रामपुर सूर्यगढ़ा (मुंगेर) २५-११-१६६८। बिहार राज्य गांधी स्मारक निधि एवं सर्वोदय के कार्यकर्त्ता। संयुक्त मंत्री, बिहार दर्शन परिषद्। विशेष रुचि—खादी एवं समाज-सेवा।

६. डा० दशरथ सिंह—एम० ए०, दर्शन (रांची, १६६५), पी० एच० डी० (भागलपुर १६७३)। प्राध्यापक, दर्शन विभाग, जैन कॉलेज, आरा। जन्म—मानदा, विभूतिपुर (समस्तीपुर) १५-११-१६४१। शोध प्रबन्ध—गाँधीवाद को विनोबा की देन। विशेष रुचि—गांधी और विनोबा का साहित्य, खादी, समाज-सेवा। अन्यान्य कृतियाँ—हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत पत्रिकाओं में विविध-विषयक लेख। प्रस्तूयमान—भारतीय दर्शन निबन्धावली।

७. प्रो० लाला पंचानन्द सिंह—एम० ए०, दर्शन (पटना, १६४८) रीडर, (अध्यक्ष) दर्शन विभाग, पटना, कॉलेज। जन्म—हवेली खड़गपुर (मुंगेर) १-१-१६२८। कृतियाँ—भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, (भागलपुर) में गोष्ठी-भाषण, दिल्ली अधिवेशन (१६६८) में मनोविज्ञान शाखा का अध्यक्षीय भाषण, इंडियन फिलोसफिकल कांग्रेस के पूना अधिवेशन (१६६६) में गोष्ठी-भाषण।

८. प्रो० पद्माकर सिंह—एम० ए०, दर्शन, भागलपुर (१६६३) प्राध्यापक (अध्यक्ष) दर्शन विभाग, अनुग्रह मेमोरियल कॉलेज, गया। जन्म—गुलनी कुशहा (भागलपुर) २-१-१६३६। शोध विषय—भारतीय दर्शन में ईश्वर के प्रमाण।

९. डा० पाण्डेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी—एम० ए० दर्शन, पटना (१६५०) पी० एच० डी० (१६६६)। शोध प्रबन्ध—रामानुजाचार्य का धर्म-दर्शन। १६५१ से प्राध्यापक, दर्शनविभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची। जन्म—करभावा, (चम्पारण) १६२८। कृति—आचार शास्त्र का अध्ययन। संयुक्त संपादक, रिसर्च जर्नल ओफ फिलासफी, राँची युनिवर्सिटी। रंगाचार्य स्मारक भाषणमाला, मद्रास, में भाषण।

१०. सुश्री प्रो० रमासेन—एम० ए०, दर्शन, (पटना, १६६४)। प्राध्यापिका (अध्यक्षा) दर्शन विभाग, अरविंद महिला महाविद्यालय, कदमकुंआ, पटना। जन्म—कलकत्ता, १४-१-१६४६। पिता—स्व० हिमांशु सेन, (चीफ सुपरिटेंडेंट, टेलिग्राफ, बिहार, पटना)। शास्त्रीय संगीत में एम० ए० (इलाहाबाद)। आकाशवाणी, पटना की सुप्रख्यात गायिका। रेडियो द्वारा आयोजित अखिल भारतीय संगीत-प्रतियोगिता में तीन बार राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृता (१६५७, ५८, ६०)। शोध-कार्य—गाँधी दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन। विशेष रुचि—ललित कला, सांस्कृतिक आयोजन।

११. प्रो० डा० रामजी सिंह—एम० ए०, दर्शन (पटना, १६५३), पी० एच० डी० (भागलपुर १६६६) डी० लिट्, (राँची १६७२)। प्राध्यापक दर्शन विभाग, भागलपुर। (भूतपूर्व प्राचार्य, बांका कॉलेज)। जन्म—इन्दरुख, जमालपुर (मुंगेर) २०-१२-१६३१। विशेष रुचि—गांधीवाद, सर्वोदय, समाज-सेवा। सदस्य—सर्वसेवा-संघ, केन्द्रीय आचार्य कुल, बिहार गांधी स्मारक निधि, तरुण शान्ति सेना, सर्वोदय प्रकाशन, गांधी-शताब्दी कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय गांधी संगोष्ठी (दिल्ली). अन्तराष्ट्रीय सर्वोदय गोष्ठी (राजगृह), संयोजक बिहार आचार्य कुल। संयुक्त मंत्री, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (१६६१ से); मंत्री, बिहार दर्शन परिषद् (१६५३-५६), सदस्य—रायल इंस्टीच्यूट ऑफ फिलासफी (लंडन) माइंड एशोशियेशन (आक्सफोर्ड)' आस्ट्रेलेशियन सोसाइटी ऑफ फिलासफी (सिडनी), इंडियन फिलासोफिकल कांग्रेस, विश्व जैन मिशन, आदि।

कृतियाँ—उपर्युक्त संस्थाओं में पठित एवं प्रकाशित अनेक निबन्ध। शोध विषय—जैन दर्शन में सर्वज्ञता, प्राचीन हिन्दू विचारधारा में सर्वज्ञता। प्रकाशित कृतियाँ—गाँधी दर्शन मीमांसा, महात्मा गाँधी का दर्शन

(आचार्य डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त की 'फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी' का हिन्दी रूपान्तर, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना से प्रकाशित)। प्रस्तूयमान—समाजदर्शन (अकादमी से प्रकाश्य)।

१२. श्रीमती विनोदबाला सिंह—ए० ए०, दर्शन (पटना, १९६१)। जन्म—नवसारी, सूरत (गुजरात), ११-१२-१९३९। पिता—डा० ईश्वर दत्त, (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना)। पति—डा० सदानन्द सिंह, निदेशक, तपोवर्धन प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र, भीखनपुर, भागलपुर। १९६७ से विभागीय कलाकार, आकाशवाणी भागलपुर। भूतपूर्व प्राध्यापिका, दर्शन विभाग, गुरुगोविन्द सिंह कॉलेज, पटनासिटी, आरा महिला कॉलेज तथा सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर। छात्रावस्था में लेख, वाद-विवाद प्रतियोगिता, तथा सुन्दर अभिनय कला के लिए पुरस्कृता। विशेष रुचि—ललित कला, सांस्कृतिक आयोजन, कथा-लेखन। कृतियां—रेडिओ से प्रसारित अनेक वार्ताएँ, संस्मरण, शब्द-चित्र, भावुक लोक-कथाएँ, विनोदपूर्ण कविताएँ, तथा 'धर्मयुग' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित विविध-विषयक लेख। प्रस्तूयमान कृति—समाज-दर्शन (विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना से प्रकाश्य)।

१३. प्रो० डा० विश्वनाथ सिंह—एम० ए०, दर्शन (१९६०), हिन्दी (१९६१), अँग्रेजी (१९६३) पी० एच० डी० (१९६५, विहार विश्वविद्यालय), जन्म—मलखाचक (छपरा), १२-१-१९३४। १९६१ से श्री चन्द्र उदासीन महाविद्यालय, हिलसा में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक। (१९५२ में रेलवे सर्विस में और १९५६ से ६० तक सरकारी आडिटर भी रह चुके हैं)। शोध प्रबन्ध—उदासीन सम्प्रदाय का उदय और विकास। प्रकाशित कृतियाँ—न्याय दर्शन की रूपरेखा, कर्म-दिग्दर्शन, शिवा बावनी, विजया-सौन्दर्य। प्रकाश्य—दर्शन की समस्याएँ (अनुवाद) सैन्य विज्ञान की रूपरेखा, कथा-कुंज आदि।

१४. प्रो० डा० शशिभूषण सिंह—एम० ए०, दर्शन (पटना १९५६), डी० लिट्० (विहार विश्वविद्यालय १९६६)। १९५८ से लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक। जन्म, दिग्घी (हाजीपुर), १५-१-१९३५। शोध प्रबन्ध—तत्त्वमीमांसा की समीक्षा। 'प्रबुद्ध भारत'

'वेदान्त केसरी', 'चिंतन', आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक निबन्ध। बिहार दर्शन परिषद् में पठित तत्त्वमीमांसा-विषयक तथा वैशाली प्राकृत जैन संस्थान से प्रकाश्य स्याद्वाद-विषयक लेख।

१५. प्रो० हरिमोहन झा—एम० ए० दर्शन, पटना (१९३२)। जन्म—कुमार बाजितपुर, (जिला—मुजफ्फरपुर) १८-९-१९०८। पिता—स्व० पं० जनार्दन झा, 'जनसीदन' (द्विवेदी युग के प्रसिद्ध साहित्यकार) १९३३ से बी० एन० कॉलेज में, और १९४८ से पटना कॉलेज में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक। १९५३ से अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पटना विश्वविद्यालय। १९७० में अवकाश प्राप्त। संप्रति विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से शोध-प्राध्यापक, पटना विश्वविद्यालय।

अध्यक्ष—अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, दिल्ली, १९६८, तत्त्व-मीमांसा विभाग, (बीकानेर १९५८), इंडियन फिलासफिकल कांग्रेस, समाज-नीति-दर्शन-विभाग, श्रीनगर, (१९५७), बिहार दर्शन परिषद् (मुजफ्फरपुर १९६२) बिहार साहित्य सम्मेलन, दर्शन शाखा, गया (१९५०) सदस्य—दर्शन नामिका, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षामंत्रालय, नई दिल्ली, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, दर्शन समिति, शिक्षा मंत्रालय सरकार भारत (१९६० से), साहित्य अकादमी (मैथिली समिति), दिल्ली (१९६७ से), दर्शन नामिका, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना (१९७० से)। इंडियन फिलासाफिकल कांग्रेस के अगले अधिवेशन (१९७४) के लिए अध्यक्ष निर्वाचित।

कृतियाँ—न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन, तर्कशास्त्र, भारतीय दर्शन, (आचार्य डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त की सुप्रसिद्ध इंडियन फिलासफी का हिन्दी रूपान्तर), फिलोसोफिकल क्वार्टरली, दर्शन इंटरनेशनल, दार्शनिक, गवेषणा आदि में प्रकाशित विविध-विषयक शोध-निबन्ध। म० म० रामावतार शास्त्री के 'यूरोपीय दर्शन' की भूमिका में समाविष्ट समकालीन पाश्चात्य दर्शन का दिग्दर्शन। बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल श्री आर० आर० दिवाकर द्वारा संपादित 'बिहार थ्रू दि एजेज' में सन्निविष्ट प्राचीन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन काल में मिथिला के दार्शनिक अवदान, इत्यादि।

अन्य कृतियाँ—तीस दिन में संस्कृत, संस्कृत रचना चन्द्रोदय आदि।

संपादित ग्रंथ—महात्मा गाँधी का दर्शन, गाँधी दर्शन-मीमांसा, भारतीय नीतिशास्त्र, बूजले कृत ज्ञानमीमांसा परिचय, मूर की नीतिशास्त्रमीमांसा, हौस्पर्स का दार्शनिक विश्लेषण परिचय, दार्शनिक विवेचनाएँ इत्यादि।

कथा साहित्य—खट्टर काका (शास्त्र-समीक्षापरक विनोद-वार्ताएँ), प्रणम्य देवता, रंगशाला, चर्चरी, (हास्य व्यंग्यपूर्ण कथा-संग्रह), कन्यादान, द्विरागमन, (फिल्मीकृत उपन्यास) आदि। विशेष रुचि—गोष्ठियों में हिन्दी, मैथिली संस्कृत और उर्दू में हास्य-विनोदपूर्ण कविताएँ। प्रस्तूयमान ग्रन्थ—परमार्थ दर्शन परिचय, भारतीय दर्शन में भाषा-विश्लेषण की धाराएँ, इत्यादि।

भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. राष्ट्र राज्यों की परराष्ट्र नीति
खण्ड-१ २८ ००
डॉ० अरविन्द नारायण सिन्हा

२. प्राचीन भारतीय स्तूप,
गुहा एवं मन्दिर २३ ००
डॉ० वासुदेव उपाध्याय

३ अंतरराष्ट्रीय संगठन का
इतिहास २३ ००
डॉ० दीनानाथ वर्मा

४ अमेरिका का इतिहास २०·००
डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना

५. विश्व की प्राचीन सभ्यताओं
का इतिहास २४ ००
डॉ० सुशील माधव पाठक

६. वस्त्रविज्ञान एवं परिधान २६·५०
प्रो० (श्रीमती) प्रमिला वर्मा

७. गृह-प्रबन्ध छा० सं० १८ ००
पु० सं० २२ ००
प्रो० (श्रीमती) कान्ति पाण्डेय

८. मानव व्यवहार तथा
सामाजिक व्यवस्थाएँ १० ००
डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद

९ भारतीय साहित्यशास्त्र कोश ५०·००
डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा'

१० उपन्यास का शिल्प ६·५०
डॉ० गोपाल राय

११ विद्यापति : अनुशीलन एवं
मूल्यांकन खण्ड-१ १२ ००
सं० डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव

१२. विद्यापति : अनुशीलन एवं
मूल्यांकन खण्ड-२ ७ ००
सं० डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव